भाषा और भाषिकी

डॉ० देवीशंकर द्विवेदी
भाषाविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)।

लक्ष्मीनारायन अग्रवाल
पुस्तक प्रकाशक : आगरा

स्व० पं० विश्वम्भरदयालु त्रिपाठी
की
पुण्य-स्मृति
में

प्राक्कथन

यह भारतवर्ष का सौभाग्य है कि हमारे विश्वविद्यालयों मे भाषिकी के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा क्रमशः बढ़ती जा रही है। हिन्दी और संस्कृत आदि की एम० ए० परीक्षा में तो भाषिकी के एक प्रश्नपत्र का प्रावधान है ही, बी० ए० तथा एम० ए० स्तर पर एक स्वतंत्र विषय के रूप में भी भाषिकी का अध्ययन-अध्यापन होने लगा है। भाषिकी के महत्व और उपयोगिता का अनुभव सुशिक्षित समाज को क्रमशः होने लगा है, यह सन्तोष की बात है; किन्तु ऐसी स्थिति में प्रशिक्षित भाषिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे सन्तुलित सामग्री प्रकाश में लाएँ। दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसा उद्योग नही हुआ है। हिन्दी मे इस विषय पर जो पुस्तकें उपलब्ध हैं, उनमे से अधिकाश मे या तो उस समय की सामग्री दी गई है, जब भाषिकी अपनी शैशवावस्था में थी या पुरानी और नई सामग्री की अखाद्य खिचड़ी पकाई गई है अथवा पुरानी या नई कैसी भी सामग्री बिना सोचे-समझे इस प्रकार ठूँस-ठूँसकर भरी गई है कि तनिक भी गहरी दृष्टि से देखने पर सामग्री की अव्यवस्था का और दृष्टि-कोण के छिछलेपन का रूप भरपूर उभरकर सामने आ जाता है। मौलिकता के नाम पर ऐसी-ऐसी बचकानी बाते कही जाती है जो न दयनीय लगती हैं न हास्यास्पद। परिणाम यह होता है कि एम० ए० मे भाषिकी का अध्ययन करके निकलने वाले हिन्दी-संस्कृत आदि के विद्यार्थियों की स्थिति प्रायः बड़ी दुःखद होती है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने के मूल में भावना यह थी कि विद्यार्थियों को ऐसी सामग्री दी जाय जिससे वे रटने के बजाय विषय को समझना भी आरम्भ करें; इसीलिए इसे एक पाठ्यपुस्तक का-सा रूप देने की चेष्टा की गई है, परीक्षाओं के नोट्स का रूप नहीं। एम० ए० हिन्दी तथा संस्कृत आदि के विद्यार्थी यदि व्यवस्थित ढंग से इस पुस्तक का अध्ययन करेंगे तो आगे भाषिकी के क्षेत्र में कार्य करने के लिए उनकी नीव मजबूत होगी। बी० ए० के जो विद्यार्थी मन लगाकर इसका मनन करेंगे, उन्हें भाषिकी में एम० ए० करते समय अथवा आगे चलकर भाषिकी के क्षेत्र में चिन्तन या शोध करने में सहूलियत होगी। इसे ठीक से पढ़ने के बाद विषय को यथार्थ रूप में समझने में सरलता होगी और उच्च श्रेणी के भाषिक साहित्य को समझने के लिए तैयारी भी हो जायगी।

मेरी इच्छा थी कि मैं इसे अत्यंत सरल, सुबोध और सरस बनाऊँ। मेरी इस इच्छा की छाप पुस्तक के अनेक पृष्ठों पर मिलेगी; किन्तु मुझे लगता है कि कुल मिलाकर मैं अपनी उपर्युक्त इच्छा की पूर्त्ति नही कर पाया। अनेक स्थलों पर

साधारण विद्यार्थी को कुछ मानसिक व्यायाम करना पड़ सकता है। यह मेरी विवशता है और मुझे इसका कोई खेद नही है, विशेषत: इसलिए कि पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रयुक्त होने पर सुयोग्य शिक्षक इसमें सरलता का समावेश कर देंगे और आवश्यकतानुसार सामग्री की मात्रा भी बढा सकेगे। शैली का हलकापन वही तक ठीक है, जहाँ तक वह विषय की गहराई को अस्वाभाविक ढंग से छिपाता नही है। मुझे आशा है कि ऐसी कुछ कमियों के बावजूद यह पुस्तक अपने उद्देश्य मे सफल होगी। हिन्दी की अधिकांश पुस्तकों में जो त्रुटियाँ पाई जाती है, आशा है, सुधी भाषिकों को वे इस पुस्तक में अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्राप्त होंगी।

पुस्तक के उद्देश्य को देखते हुए इसमें कितनी सामग्री दी जाय, यह एक समस्या रही है। सामग्री में प्रायः सर्वत्र जटिलताओ से बचने की चेष्टा की गई है, यद्यपि कुछ स्थलो पर ऐसा नहीं किया जा सका है अथवा एक सीमा तक ही किया जा सका है। उदाहरणार्थ, हिन्दी स्वरों मे मात्रा-भेद की चर्चा की गई है, गुण-भेद की स्थिति भली प्रकार नही स्पष्ट की गई। पुस्तक में अपनी बात कहने का दृष्टिकोण रहा है, किसी की बात काटने का नही। प्रचलित बातो से कही-कहीं भिन्नता दिखाई दे तो यह स्वाभाविक ही होगा।

यहाँ दो शब्द पारिभाषिक शब्दों के संबंध में कह देना अनुचित न होगा। प्रचलित शब्द मुझे जहाँ भी असन्तोषजनक लगे है, उनमे परिवर्तन करने में मैंने कोई संकोच नहीं किया है। ध्वनिग्राम, ध्वनिश्रेणी आदि शब्द एक तो बड़े है, दूसरे उन्हें स्वीकार कर लेने पर स्वनिम को 'ध्वनि-समूह' के रूप में मानने की पुरानी विचार-धारा को स्वीकार करने के लिए हम विवश हो जाते हैं। 'स्वनिम' शब्द में ऐसा कोई पूर्वाग्रह नहीं है। इसे कोई चाहे तो 'ध्वनि-समूह' के रूप में भी स्वीकार कर सकता है और ध्वनियों के भावानयन के रूप की गुंजाइश तो इससे हो ही जाती है। यह शब्द डॉ० विश्वनाथ प्रसाद का है और मैंने इसे पूरे चाव तथा आस्था के साथ अपनाया है। इसका /-इम/ प्रत्यय देखकर चौंकने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी के रक्तिम, स्वर्णिम आदि शब्दों में वह विद्यमान है। इन शब्दों में 'आभास' अथवा 'भावानयन' का जो भाव आ जाता है, वही मुझे 'स्वनिम' में अपेक्षित है। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं नई धातुओं और नये प्रत्ययों को गढ़ने में भी संकोच नही करता यदि अँगरेजी के समानार्थी शब्द से कुछ ध्वनि-साम्य हो और इन नये रूपो की प्रकृति संस्कृत अथवा हिन्दी की ही हो। इसके कई प्रमाण इस पुस्तक में मिलेगे। उपर्युक्त मानदण्डों को सामने रखकर मैने बहुत से शब्द गढ़े है; अनेक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद से लिये हैं। लीक से हटकर चलने में झिझकने वाले लोगो को जो शब्द खटकेंगे, उनमें से अधिकांश मेरे होंगे। संबंधित शब्द-तालिकाओं के निर्माण में ये शब्द बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। संशोधन भी मैंने किये है। 'वॉवेल-ट्रैंगिल' का अनुवाद मैंने 'स्वर-चतुष्कोण' किया है,

'स्वर-त्रिकोण' नही। 'कंठ्य' को मैंने 'उत्कंठ्य' कर दिया है। 'समीपी संघटक' में मैंने 'समीपी' के स्थान पर 'आसन्न' करना उचित नही समझा, क्योंकि ये संघटक समीपी अवश्य होते है, आसन्न नही भी होते और इस विषय का अभिप्राय ही 'समीपता' का विवेचन है।

गुरूवर डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने भाषिकी के क्षेत्र में कदम रखना सिखाया; इस पुस्तक को उनका आशीर्वाद मिलना ही चाहिए था। निरन्तर जिसे पाया है, उनके उस निश्छल स्नेह के लिए, उनके निर्मल देवोपम व्यक्तित्व के प्रति भक्ति ही प्रकट कर सकता हूँ, कृतज्ञता व्यक्त करने की औपचारिकता नही निभाना चाहता।

—लेखक

भूमिका

इस पुस्तक को देख कर मुझे गर्व और प्रसन्नता दोनों का ही अनुभव हुआ है—गर्व इसलिए कि यह मेरे परम प्रिय शिष्य डॉ० देवीशंकर द्विवेदी की पांडित्यपूर्ण कृति है और प्रसन्नता इसलिए कि यह भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक प्रामाणिक और अपने ढंग की अनोखी देन है। डॉ० देवीशकर द्विवेदी प्रतिभाशाली विद्यार्थी रहे हैं और भाषाविज्ञान का उन्होने बहुत ही गहराई के साथ अध्ययन और मनन किया है। इस समय वे सागर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के अध्यापक है। अध्यापन के क्रम में वहॉ अपने विद्यार्थियों के सपर्क से उनकी आवश्यकता के अनुसार विषय के जिन पक्षो के महत्व का उन्हें बोध हुआ है, उनका इसमे उन्होने नए ढग से विवेचन किया है। उनके बिचार मे जैसी सुस्पष्टता है, वैसी ही उनकी भाषा में प्रांजलता और विषय के अनुरूप अभिव्यक्ति की शक्ति है।

विज्ञान की और शाखाओ के समान ही भाषाविज्ञान में भी कुछ लिखते समय पारिभाषिक शब्दो की समस्या जटिल रूप में आ खड़ी होती है। इसीलिए मैंने आज से कोई दस-बारह वर्ष पहले पटना विश्वविद्यालय के तत्वावधान में भाषाविज्ञान की एक पारिभाषिक शब्दावली तैयार करके विद्वज्जनो के समकक्ष प्रकाशित की थी। उसी का प्रयोग आगरा विश्वविद्यालय के क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ में पठन-पाठन तथा लेखन के क्रम में हम बराबर करते रहे है। देवीशंकरजी ने भी इस पुस्तक में प्राय: उसी शब्दावली का प्रयोग किया है, परन्तु उसके अतिरिक्त उन्होंने कई अन्य शब्द भी व्यवहृत किए है। Linguistics के लिए उन्होंने 'भाषाविज्ञान' के बजाय 'भाषिकी' शब्द को अधिक उपयुक्त समझा है। 'इक्स' (ics) वाले शब्दों के लिए सर्वप्रथम डा० रघुवीर ने इस ढाँचे के अनेक शब्दों का निर्माण किया था, जैसे भौतिकी, दैहिकी इत्यादि। इसी तर्ज पर देवीशंकरजी ने भी Linguistics के लिए 'भाषिकी' शब्द का निर्माण और व्यवहार किया है। संस्कृत में भाषिक शब्द का अर्थ प्राय: निम्न कोटि की भाषा के लिए हुआ है, पर भाषिका शब्द सामान्य अर्थ में भाषा के लिए कभी-कभी व्यवहृत हुआ है और उसके आधार पर भाषिक शब्द का निर्वाह हो जाता है। लेखक ने इस पुस्तक के दसवे अध्याय में अपने द्वारा व्यवहृत हिन्दी-अँगरेजी और अँगरेजी-हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली दे दी है, जिससे पाठको को पारिभाषिक शब्द तथा उनके अँगरेजी पर्यायों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होने पायेगी।

अपने देश में भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के संवर्धन मे भारतीय भाषा-विज्ञान-परिषद् (Linguistic Society of India) द्वारा आयोजित ग्रीष्मकालीन तथा शरत्कालीन सूत्रों का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण है। इधर दस वर्षो के अन्तर्गत आगरा, पूना, सागर और अन्नामलाई—इन कई विश्वविद्यालयो में भाषाविज्ञान के विधिवत् शिक्षण तथा अनुसंधान का आयोजन हुआ है। इनमें सागर विश्वविद्यालय को यह विशेष गौरव प्राप्त है कि वहाँ स्नातकोत्तर शिक्षा के अतिरिक्त बी० ए० में भी भाषाविज्ञान का अध्यापन एक स्वतत्र विषय के रूप में होने लगा है। यह भी हर्ष की बात है कि भाषाविज्ञान के अध्यापन के माध्यम के रूप में हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर कक्षाओं में भी हिन्दी का ही प्रयोग हो रहा है। यद्यपि अभी हिन्दी मे इस विषय की प्रामाणिक पुस्तकें इनी-गिनी है तो भी इस दिशा में दृढ़ता और सफलता के साथ कदम बढाए गये है। स्नातकोत्तर कक्षा के एक स्वतंत्र विषय के रूप में भाषाविज्ञान का हिन्दी माध्यम के द्वारा अध्यापन हमने आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी विद्यापीठ मे ही प्रारम्भ किया था। यों तो हिन्दी के अतर्गत केवल एक प्रश्न-पत्र के रूप में हिन्दी माध्यम से भाषाविज्ञान का शिक्षण काशी विश्व-विद्यालय, प्रयाग, पटना, सागर आदि विश्वविद्यालयो की एम० ए० कक्षा मे पहले से ही होता था; इसलिए माध्यम की दृष्टि से इस विषय के प्रतिपादन में लेखक ने पारि-भाषिक शब्दावली तथा भाषा की कठिनाइयों को बडी सावधानी के साथ परखा है और उनका सफल समाधान इस पुस्तक के प्रणयन में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार के तर्कों के प्रति मेरी कोई आस्था नहीं है कि जब तक भारतीय भाषाओं में विविध विषयो के क्षेत्र में विदेशी भाषाओं का समग्र साहित्य अनूदित रूप में नहीं आ जाता अथवा मौलिक रूप में उसी कोटि का साहित्य उसी मात्रा में नहीं उपलब्ध हो जाता, तब तक विश्वविद्यालयो में भारतीय भाषाओं को माध्यम नहीं बनाना चाहिए। उपर्युक्त कमियों को दूर करने के लिए उत्साही अनुवादकों, लेखकों तथा प्रकाशकों ने उद्योग किये हैं और कर रहे हैं। शिक्षा-मंत्रालय का केन्द्रीय हिन्दी निर्देशालय भी इस दायित्व को तेजी के साथ पूरा कर रहा है लेकिन मेरी धारणा है कि अब यदि थोड़े-से उपलब्ध साहित्य के आधार पर भी भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय और उनका व्यवहार किया जाने लगे तो आगे के काम में विद्यार्थियों और अध्यापकों को स्वत: जिस कमी का अनुभव होगा, वही कमी सारे अभावों को दूर करने के लिए इस दिशा में सामूहिक प्रयासों का कारण बन जायगी; और इसमें तो मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है कि भारतीय भाषाओं में विविध विषयों पर श्रेष्ठ साहित्य का सृजन तभी हो सकेगा, जब हम अपनी भाषाओं मे अध्ययन-अध्यापन और चिन्तन करने के अभ्यस्त हो जायेंगे। चले बिना जैसे चलना नहीं सीखा जा सकता, वैसे ही माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं का व्यवहार किए बिना उनमें पर्याप्त क्षमता का विकास नहीं हो सकता।

हिन्दी की भाषिकी-विपयक पुस्तको मे प्राय: एक ही प्रकार की सामग्री मिलती है। यह पुस्तक इस दृष्टि से अपना पृथक् स्थान रखती है । विपय-क्षेत्र के अति-विस्तार का दोप भी इसमे नही है । ऐसे बड़े-बड़े शीर्षक इस पुस्तक में सम्मिलित नहीं किये गये है जिनका भाषिकी की प्रकृति को समझने-समझाने में कोई योग नही होता, लेकिन जो हिन्दी मे मिलने वाली पुस्तकों का अधिकाश स्थान घेर लेते है । इसमे कम शीर्षक है और उनमे सक्षिप्त सामग्री है । कुल मिलाकर मुझे यह पुस्तक ऐसी प्रतीत हुई है जिसे बिना काट-छाँट किये भाषिकी के क्षेत्र में गंभीरतापूर्वक प्रवेश कर रहे विद्यार्थियों के हाथों में नि·सकोच दिया जा सकता है । इसमें अपेक्षित सामग्री दी गई है, अपेक्षित मात्रा में दी गई है और अपेक्षित ढग से दी गई है । यह इस पुस्तक की विशेषता है ।

भाषिकी का विषय प्राय: क्लिष्ट माना जाता है । बहुधा देखा जाता है कि भाषिकी अपने अध्येताओं को अपने वश मे कर लेती है लेकिन इस पुस्तक में लेखक ने भापिकी को अपने वश में कर लिया है । इस विषय पर कितनी बात बतानी है और कितनी नही, इस बात का निश्चय प्रत्येक अध्यापक तथा लेखक को करना पड़ता है । इस दिशा में विषय के वशीभूत हो जाना (जो वस्तुत: विषय के परम्परागत प्रस्तुतीकरण के वशीभूत हो जाना होता है) मेरी दृष्टि मे अध्यापक और लेखक की असफलता है । सफल अध्यापक और लेखक विषय को अपने वशीभूत कर लेता है । इस गुण के अनेक स्पष्ट प्रमाण इस पुस्तक मे देखने को मिलेंगे । उदाहरणार्थ, पृ० ३० की दूसरी पादटिप्पणी या पृ० ५७ की पादटिप्पणी ली जा सकती है । पृ० ६४ की पादटिप्पणी में यह गुण और भी अधिक स्पष्ट है, जिसमें दो विकल्पों की बात आई है, किन्तु विवादास्पद बात को न छेड़ने के लिए एक ही विकल्प का उल्लेख किया गया है ।

परन्तु सरलता और सुबोधता की इस वेदी पर मौलिकता और विद्वत्ता की गहराई का बलिदान नही होने पाया है । मर्प-विज्ञान में (लेखक ने Morphology के लिए मर्ष-विज्ञान शब्द का प्रयोग किया है) 'कीजिए' और 'करिए' की समीक्षा इसका प्रमाण है । पृ० ७५ पर 'ड' के द्विस्वरान्तर्गत वितरण के सन्दर्भ मे जो उदाहरण दिये गये है, उनका चुनाव जान-बूझकर किया गया है, क्योंकि लोग ऐसा मान बैठे है कि 'ड' और 'ड़' का व्यतिरेक प्रदर्शित करने वाले लघुतम युग्म हिन्दी में नही हैं । इस मिथ्या धारणा का लेखक ने खंडन किया है । विज्ञापित उदाहरणों में एक-आध पर बोलीगत होने का सदेह हो सकता है, लेकिन दो-एक उदाहरण निश्चय ही बोलचाल की खडी बोली में मिल जायँगे ।

मौलिकता और गहराई के लिए अन्य द्रष्टव्य स्थल हैं—पृ० ७१-७२ की पादटिप्पणियाँ, वाक्य-विज्ञान में 'और' चिह्नक की आकृतिमूलक व्याख्या तथा पृ० ६८-६९ पर भाषा और बोली के संबंध का किया गया व्यावहारिक विवेचन । अपना

मत प्रकट करने में लेखक ने तनिक भी नरमी नहीं बरती है, इसका प्रमाण 'भाषा की उत्पत्ति' के अंतिम पृष्ठों पर मिलता है लेकिन लेखक संकीर्ण और कट्टरपंथी नहीं हैं। वे व्यावहारिक दृष्टिकोण वाले उदारवादी है। इसका प्रमाण 'भाषिकी का उपयोग' के अंतर्गत शब्द-निर्माण के प्रसंग में उन्होंने दिया है।

पुस्तक कई नवीनताओं के लिए उल्लेखनीय है। भाषा की आकृति (रूप) से संबंध रखने के कारण यहाँ सीमान्तिकी मे सांकालिक दृष्टि ही अपनाई जा सकी है। फलतः जो सामग्री उक्त शीर्षक के अंतर्गत दी गई है, वह अन्य हिन्दी पुस्तकों में नहीं मिलती। मर्ष-विज्ञान में वाग्भागों का नामोल्लेख-मात्र नही कर दिया गया है, न उन पर दार्शनिक आरोप करने वाले परम्परागत विवरण दिये गये है, बल्कि शुद्ध आकृतिवादी दृष्टि से उनके निर्धारण की प्रक्रिया समझाई गई है। मर्षस्वानिमी मर्षिमों की स्वानिमिक आकृति से संबंध रखती है, इसलिए उसमें मर्षिमों के आप्त रूपों का भी समावेश किया गया है और केवल 'संधि' का उल्लेख करने की असंगति से बचा गया है। इससे स्वानिकी-स्वानिमी से मर्षस्वानिमी-मर्षविज्ञान के विवेच्य विषय का समानान्तरण भी बना रहता है, जिससे एकरूपता की रक्षा हो जाती है। इस पुस्तक के दो अध्याय इस दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय हैं—'भाषा : एक वैज्ञानिक दृष्टि' और 'भाषिकी का उपयोग'। 'भाषिकी क्या है ?' मे भी लकीर पीटने की परम्परा के उल्लंघन के दर्शन होते हैं। भाषिकी की शाखाओं का जैसा व्यवस्थित, सरल और सन्तोषजनक वर्गीकरण इसमें किया गया है, वह अपूर्व है।

पुस्तक के सभी पृष्ठ लेखक की सूक्ष्म विश्लेषण-क्षमता के परिचायक है। प्रथम दो अध्याय 'भाषा' का परिचय-मात्र देते है, लेकिन लेखक की विवेचना-शक्ति का परिचय पाठक को इन्ही से हो जाता है। पुस्तक की शैली रोचक और मनोहर है। यदि कही दुरूहता प्रतीत हो तो समझिए कि वह शैली की नहीं, विवेच्य विषय की होगी।

हिन्दी-अंगरेजी और अंगरेजी-हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली के योग से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। परिशिष्ट में लेखक ने पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अपने छह निबन्ध दे दिये हैं, जो पुस्तक में दी हुई सामग्री की पुष्टि या पूर्ति करते हैं अथवा सुबोध और रोचक ढंग से उससे संबंधित किसी नये विषय पर चर्चा करते है।

इस महत्वपूर्ण पुस्तक के प्रणयन के लिए मैं बड़े आनन्द के साथ डा० देवीशंकरजी को बधाई देता हूँ। मुझे विश्वास है कि यह ग्रंथ अपने विषय के क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा।

विश्वनाथ प्रसाद
निर्देशक
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
(शिक्षा-मंत्रालय)

नई दिल्ली
ता० १८-३-१९६४ ई०

अनुक्रमणिका

विशेष चिह्न

⌒	ह्रस्वता-द्योतक
√	धातु-चिह्नक
>	पूर्ववर्ती रूप व्युत्पादक और परवर्त्ती रूप व्युत्पन्न है
<	पूर्ववर्ती रूप व्युत्पन्न और परवर्त्ती रूप व्युत्पादक है
*	पुनर्रचित रूप अथवा कल्पित और मिथ्या रूप

भाषा

पहला अध्याय

भाषा का अर्थ

१. जिस वस्तु का प्रयोग हम बचपन से निरन्तर करते चले आ रहे हैं और जिसका उपयोग हमारे लिए अत्यत सहज-स्वाभाविक है, उसकी व्याख्या भी हम उतने ही सरल ढंग से शब्दो में नही कर पाते, किन्तु इतना सब बता सकते हैं कि कहने और बोलने आदि का सबध भाषा से ही है। और इन क्रियाओं की उपस्थिति के विविध प्रसंग मिलते हैं। उदाहरणार्थ :—

एक तारा टूट कर क्या कह गया !

अथवा

एक दिन बोला बवंडर धूल से।

क्या इन दोनों पंक्तियों मे भाषा के प्रयोग की चर्चा आई है ? तारे को टूटते सबने देखा होगा ; किन्तु किसी ने क्या उसे कुछ कहते भी सुना है ? बवडर सबने देखा होगा और उसके साथ उड़ती हुई धूल भी सबने देखी होगी ; किन्तु क्या किसी ने उन्हें परस्पर बातचीत करते हुए भी देखा है ? तब फिर, बवंडर धूल से बोला— ऐसा क्यों कहा गया है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों शकाएँ सत्य हैं। इन प्रसंगों में 'भाषा' का प्रयोग नही होता, 'कह गया' और 'बोला' का प्रयोग कदाचित् मिथ्या है। लेकिन क्या कवि को इन प्रयोगों की अशुद्धता का पता नही था ? इस प्रश्न के पहले हमें स्वयं इस बात का पूरी तरह निश्चय कर लेना चाहिए कि ये प्रयोग अशुद्ध ही हैं, शुद्ध तो नहीं हैं। शुद्धता-अशुद्धता के निर्णय का एक उपयोगी ढग यह है कि हम ये पक्तियाँ स्वयं पढ़ें और दूसरों को पढ़ाएँ। इसके बाद स्वयं अनुभव करें और दूसरों से पूछें कि ये पक्तियाँ हमें अखरती तो नही हैं, यदि यही बात हमसे पद्य में कहलाई जाय तो हम इसी प्रकार स्वय कहने में किसी प्रकार की अशुद्धता का अनुभव तो नहीं करते। निश्चय ही, इस जिज्ञासा का उत्तर होगा—नही। इस परीक्षण से निष्कर्ष यह निकला कि उक्त दोनों पक्तियाँ शुद्ध हैं।

एक बार हमने इसे अशुद्ध समझा, दूसरी बार शुद्ध। यह असंगति क्यों ? कदाचित् इसका कारण यह है कि हमने 'भाषा', 'कहना' और 'बोलना' शब्दों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं पकड़ा था। वास्तव में ये शब्द भिन्न होते हुए भी अर्थ में बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। 'भाषा' शब्द संस्कृत की √भाष् धातु से निष्पन्न होता है,

जिसका अर्थ 'बोलना' ही है। इस प्रकार इन कविता-पक्तियों के प्रसंगों मे 'कहने' और 'बोलने' के अतिरिक्त 'भाषा' शब्द का प्रयोग भी सभव है। और इन तीनों के अर्थों के दो स्वरूप है। एक, किसी भी ढग से बात व्यक्त कर दी जाय। दो, मुँह से कुछ ध्वनि उत्पन्न करके ही यह कार्य सपन्न किया जाय। जब हमें उक्त कविता-पंक्तियाँ अशुद्ध लगने लगी थी, तब हम दूसरे अर्थ से प्रभावित थे। जब हमने इन्हें शुद्ध माना तब हमारे मस्तिष्क मे पहला अर्थ था। तारे ने मुँह खोलकर कुछ नही कहा, वह टूट गया। इस टूट जाने के कार्य से ही उसने यह व्यक्त कर दिया कि भरे-पुरे आकाश के अगणित देदीप्यमान तारों मे से शोभाभरी रात में कौन किस समय सहसा काल-कवलित हो जायगा, नही कहा जा सकता; संसार नश्वर है और हमें इससे शिक्षा लेनी चाहिए। जहाँ तक तारे के टूटने का और उसके उपर्युक्त बातें कहने का संबंध है, इस कविता-पक्ति के अनुसार ये दोनों कार्य अलग-अलग नहीं हैं। उसका टूटना ही यह सब कहना है।

इस पंक्ति में जो कुछ कहा गया है, वैसी बाते दार्शनिक प्रकृति के लोगों को सदा ही सूझा करती हैं। इन्हें पद्यबद्ध करने का सामर्थ्य कवियो को प्राप्त होता है। तारे में अथवा किसी अन्य निर्जीव पदार्थ में भी भाषा की क्षमता देखना इन लोगों के लिए सहज है; किन्तु 'भाषा' का यह व्यापक अर्थ इन लोगों के अलावा अन्य सामान्य जनो के लिए भी यथार्थ है क्योंकि इस प्रकार की दार्शनिक चिन्तनाओं का सीधा संबंध हम लोगों के जीवन से होता है और काव्य-सर्जक हों न हों, काव्य-रसास्वादक तो कुछ-न-कुछ हम सभी होते है। इन दोनों हैसियतों से भाषा का यह व्यापक अर्थ हमें भी स्वीकार्य और सर्वथा ग्राह्य है।

दूसरी पंक्ति में एक निर्जीव पदार्थ को दूसरे निर्जीव पदार्थ से बातचीत करते दिखाया गया है। यहाँ कवि ने इन पदार्थों में मनुष्य की भाँति जीवन का आरोप कर लिया है। यह मनुष्य की कल्पनाशीलता है जो चराचर में अपने-जैसे सुख-दुःख, राग-द्वेष, बधाई-उपालम्भ आदि की खोज करती है। यह आलंकारिक प्रयोग है और इस कल्पनाशीलता से हमारा प्रकृतिगत तथा पुराना परिचय है। इस नाते इस पंक्ति में निहित 'भाषा' के व्यापक अर्थ में भी हमें कुछ अजनबीपन नहीं दिखता।

किन्तु जब हमारी स्थिति भाषिकी के अध्येता की होती है, तब हम निर्जीव पदार्थों की कल्पित और अनुच्चरित भाषा से संबंध नहीं रखते।

२. बिना बोले हुए बातें व्यक्त कर देने के ऐसे प्रयोग और प्रसंग निर्जीव पदार्थों के ही नहीं, जीवित प्राणियों के भी मिलते हैं। श्रमिक मधुमक्खी जब किन्हीं पौधों में मधु का पता पा लेती है तो अपने छत्ते में वापस लौट आती है और वहाँ आकर एक विशेष प्रकार का नृत्य करने लगती है। इस नृत्य के द्वारा वह अन्य श्रमिक मधुमक्खियों को अपने नए मधु-स्रोत की उपस्थिति की ही सूचना नहीं देती बल्कि उसकी स्थिति, छत्ते से उसकी दिशा और दूरी का भी पता देती है।

बन्दर एक-दूसरे के सिर के जूँ बीनने के लिए मुँह से कुछ नहीं कहते, केवल सिर झुकाकर पास बैठ जाते हैं और उनकी बात समझ ली जाती है।

मनुष्यों मे भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते है। किसी बड़े-बुजुर्ग से अपमानित होकर जब हम चुपचाप बैठ जाते है और आवश्यकता से अधिक गंभीर हो जाते है, तब मुँह से क्या कहना शेष रह जाता है ? किसी के द्वारा बार-बार बुलाये जाने पर भी जब हम अपने स्थान से नही उठते, तब क्या हमारी अनिच्छा व्यक्त नहीं हो जाती ? किसी व्यक्ति-विशेष के निकट मुँह से कुछ कहने की आवश्यकता ही नही समझी जाती। उदाहरणार्थ :—

मेरे नयनों की भाषा तुम पढ़ ही लोगे
इसलिए तुम्हारे तीर मौन हो जाता हूँ।

इसी प्रकार निष्क्रिय न रहकर कभी-कभी मनुष्य सक्रिय होकर अपनी बात प्रकट करता है ; किन्तु मुँह से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं समझता। स्लेट पर लिखे हुए इम्ले की जाँच के बाद जब अध्यापक किसी विद्यार्थी की पीठ ठोंकता है, तब क्या उसका अभिप्राय विद्यार्थी से छिपा रहता है ? साल भर बाद परदेश से लौटा पिता घर में घुसते ही जब अपने तीन साल के बच्चे के गाल थपथपाता है, तब क्या उसकी बात व्यक्त नही होती ? रामू ने पीछे से आकर जब श्यामू के सिर पर लाठी दे मारी, क्या तब भी उसके क्रोध की सूचना पाने के लिए रामू को किन्ही शब्दों की आवश्यकता रह गई ?

कभी कभी लोग आँखो ही आँखों में बातें कर लिया करते है। लोग आँखें मिलाते है, आँखे चुराते है, आँखें लड़ाते है, आँखें नचाते है, आँखे उठाते हैं, आँखे झुकाते है, आँखे बनाते हैं, आँखें खोलते है, आँखें मूँदते है, आँखें फोड़ते हैं और आँखे मारते है। लोग आँखे फैलाते हैं, आँखें सिकोड़ते है। लोग आँखें दिखाते है। ये सब केवल मुहावरे नहीं हैं, बल्कि सचमुच ये क्रियाएँ की जाती है। मुहावरों के रूप में प्रयुक्त होने के कारण यह आवश्यक नहीं है कि इन शब्दों का प्रयोग हो रहा हो, तो उनके पीछे ये क्रियाएँ की ही जा चुकी हों। लेकिन ये क्रियाएँ की जाती हैं और जब की जाती है तब इनका कुछ अर्थ होता है।

रास्ते मे जाते हुई किसी व्यक्ति को देखकर हाथ जोड़ देना कुछ अर्थ रखता है। हिलती हुई हथेली का कुछ अर्थ न होता तो पास आता हुआ व्यक्ति कैसे लौट जाता अथवा दूर जाता हुआ व्यक्ति पास कैसे आ जाता ? अँगूठा दिखाने, जीभ दिखाने, जीभ निकालने और पीठ दिखाने का अर्थ कौन नही जानता ? छोटे बच्चे अँगूठे मिलाकर मित्रता का और कनिष्ठिका मिलाकर अमित्रता का आरंभ करते है। स्काउटों की झडियाँ और मार्ग में बनें हुए संकेत कुछ अर्थ देते है। गार्ड की हरी अथवा लाल झंडी का हिलना और हरी अथवा लाल रोशनी का जलना ड्राइवर को

क्या कुछ सूचना नही देता ? किसी वक्ता की बात सुनकर श्रोता ताली पीटकर कुछ व्यक्त ही तो करते हैं । वक्ता की हिलती हुई या मेज पर पटकी जा रही मुट्ठी उसके वक्तव्य की तीव्रता की सूचना देती है और पुष्टि भी करती है ।

समाज के सदस्य होने के नाते इन सब प्रक्रियाओ मे हमारा अपनापन है और हमारे निकट इनका पूरा-पूरा मूल्य है । किन्तु जब हम भाषिकी के अध्येता की हैसियत में होते हैं, तब हम इनकी चर्चा नहीं करते ।

३. ऊपर हम 'भाषा' के अपेक्षाकृत सकुचित अर्थ का उल्लेख कर चुके है । इसमें मुँह से कुछ बोलना आवश्यक होता है । स्पष्ट है कि मुँह से बोलना प्राणियों की क्रिया है । मनुष्यों को बोलते हुए तो हम सुनते ही है, जीव-जन्तु भी बोलते है । इनकी बोली हम सबने सुनी है । कुत्ता आते हुए व्यक्ति के साथ के कुत्ते को देखकर गुर्राता है और अपना विरोध प्रकट कर देता है । नाचती हुई मयूरी की आवाज़ कितने ही मयूरों को पास बुला लेती है । छुरी चलने के पहले ही कसाई का बकरा चिल्लाने लगता है । कुत्ते के भौंकने की एक शैली ऐसी है कि मुहल्ले के सारे कुत्ते उसके पास एकत्र होकर भौंकना आरम्भ कर देते है । हम लोगों ने ऐसी पंक्तियाँ भी बचपन मे पढी है:—

खरहा बोला शेर से—देर हुई श्रीमान् !
एक दूसरे शेर ने मुझे किया हैरान ।।

अथवा

चूँ-चूँ बोले चूहेराम—
तुमको हमसे कैसा काम ?

यहाँ खरहे और शेर की जिस बातचीत का हवाला दिया गया है, वह हिन्दी में तो हुई न होगी । और खरहे तथा शेर की एक भाषा हो नहीं सकती । हो भी तो खरहा ऐसा सन्देश लेकर शेर के सामने उपस्थित नहीं होगा । अस्तु, यह बातचीत हुई ही नहीं और जैसा कि हम लोगों ने बचपन में ही समझ लिया था, यह एक कल्पित कहानी का अंश है जिस कहानी की रचना सीख देने के उद्देश्य से हुई है । इसमें भी हमारी कल्पनाशीलता उत्तरदायी है जिसने इन पशुओं पर मनुष्यों की भांति वाक्शक्ति का आरोप कर लिया है ।

इसी प्रकार चूहेराम चूँ-चूँ तो बोल सकते हैं लेकिन "तुमको हमसे कैसा काम" यह नही बोल सकते । और यह सारी बात चूहेराम ने चूँ-चूँ भाषा में भी नहीं कही होगी, इतना तय है । वास्तव में, यहाँ भी उक्त कल्पनाशीलता दिखती है और इस कल्पनाशीलता के हम बचपन से ही अभ्यस्त हैं क्योंकि जानवरों की जितनी भी कहानियाँ नानी ने हमें सुनाई हैं, उनमें सारे जानवर मनुष्यों की तरह बोलते हैं ।

ये कहानियाँ हमने सुनी हैं, हमारे छोटे भाइयों ने सुनी हैं और हमारे बच्चे

भी इन्हे सुन रहे हैं। नानी की कहानियों की यह अक्षुण्ण परम्परा हमारी मधुर सम्पत्ति है और उसे उसी प्रकार स्वीकार करते हुए हमें हर्ष होता है ; लेकिन जब हम भाषिकी का अध्ययन करेंगे तब पशु-पक्षियों की इस बोल-चाल को भूल जायँगे और कुत्ते की भों-भों तथा बिल्ली की म्याऊँ-म्याऊँ की ओर भी हमारा ध्यान नहीं जायगा। हम केवल मनुष्य को अपना लक्ष्य बनाएँगे।

४. मनुष्य ध्वनियों का उत्पादन करने में सिद्धहस्त है। मुट्ठी को मेज पर पटककर, कुंडी खटखटाकर या ताली बजाकर वह ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। यदि मुँह से उत्पन्न की जाने वाली ध्वनियो पर ही विचार करें तो उनकी संख्या भी बहुत है। जिन घरों में बहुएँ पर्दा करती है, उनमें बड़े-बूढे खाँसकर अपने आने की सूचना देते हैं। कुछ अकड़बाज ग्रामीण अपने शत्रुओं के घर के पास से निकलते हुए चुनौती देना चाहते है तो खाँसते या खखारते है। किसी के प्रति अपनी घृणा प्रकट करनी हुई तो कुछ हल्के ढंग के लोग खखार-खखारकर (ताकि उद्दिष्ट व्यक्ति सुन ले) थूकते है। कुछ लफंगे स्त्रियो और लडकियो को देखकर भद्दे ढंग से खाँसते है; कुछ शोहदे सीटी बजाते है। आजकल के लडके जब माँ-बाप से चुराकर सिनेमा जाने का कार्यक्रम बनाते है तो परस्पर सीटी बजाकर अपने आने की सूचना देते हैं।

हम घोड़े को चलने के लिए टिटकारी देते है, बच्चे को चुप करने के लिए पुचकारते हैं। दिसम्बर-जनवरी की रातों में जब मित्रों के साथ बैठकर ही-ही करते है तब जाड़े के मारे सी-सी भी करते जाते है। कोइ वीभत्स दृश्य देखकर छि:-छि: करते है और किसी पर दया आई, तो च्-च्-च्-च् करने लगते है। पुरुष ठहाका लगाते हैं, स्त्रियाँ खिलखिलाती हैं और बच्चे किलकते हैं। विपत्ति पड़ने पर चीखते-चिल्लाते हैं, रोते हैं, सिसकते है। ये सारे काम मनुष्य मुँह से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों से करता है।

ये सारी ध्वनियाँ हमारे जीवन का अभिन्न अंग हैं ; हम इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु भाषिकी में इन पर विचार नहीं किया जाता। इन ध्वनियों से शब्द नहीं बनते और वाक्यों में इनका प्रयोग नहीं होता। जो शब्दों के रूप में प्रयुक्त होती हैं, वे वस्तुत: परिवर्त्तित होती है। 'उसका छि:-छि: करना उचित नहीं था' इस वाक्य में प्रयुक्त 'छि:-छि:' उसी प्रकार नहीं बोला जाता जिस प्रकार हम छि:-छि: करते हैं। ऊपर लिखा हुआ 'च्-च्-च्-च्' भी उस प्रतिरूप से भिन्न है जिसका प्रयोग हम प्रसंगानुसार दया-करुणा में करते है। हँसना-रोना आदि क्रियाएँ तो ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध किसी भाषा से नहीं है। वे सार्वभौम हैं और हमारा संबंध भाषिकी में उन्हीं ध्वनियों से होता है, जो भाषा-भाषा के अनुसार बदलती हों, जिन्हें पास-पास रखकर शब्द बनाए जाते हों। उदाहरणार्थ:—क, ख, ग, घ, आदि।

इस ढंग से उत्पन्न हुई ध्वनियों के संयोजन से जो भाषा बनती है और बोली जाती है, भाषिकी के लिए वही **भाषा** है।

५. भिन्न-भिन्न ध्वनियों और शब्दोंवाली भाषाओं को एक-दूसरे से पृथक् मानते है और उन्हें **भाषाएँ** कहते हैं। मानव-मात्र जिस प्रकार इन ध्वनियो का व्यवहार करता है, उस सबको सम्मिलित रूप से 'भाषा' कहा जाता है। किसी एक समुदाय या क्षेत्र की भाषा भापा-विशेष होती है और 'भाषाओं' के अन्तर्गत आती है। 'भाषा' एक है, उसे मनुष्य काम में लाते हैं। उसका विभाजन संभव नहीं है। 'भाषाएँ' अनेक हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न मनुष्य-समुदाय काम में लाते हैं। भापाओ का विभाजन संभव है : हिन्दी, मराठी, तमिल आदि 'भापाएँ' हैं।

इनके और भी भेद-प्रभेद संभव है। प्रत्येक व्यक्ति की भापा को अलग करके देखा जा सकता है। किन्तु

खल-भाषा समझबु जग माँही। यहिते अधिक कठिन कुछु नाँहीं॥

इसमें जिस 'भाषा' का उल्लेख किया गया है, उससे भाषिकी का संबंध नही है। इस पंक्ति के अनुसार विभिन्न भाषाओं के दुष्ट लोग एक ही तरह से बोलते हैं और सारी भाषाओं के सज्जन दूसरी तरह से (किन्तु परस्पर-भिन्न नही, एक तरह से)। कोई व्यक्ति सर्वांग सज्जन होता है और कोई व्यक्ति सर्वांग दुष्ट, ऐसा सोचना ठीक नही है। ऐसे लोग मान भी लिए जायँ§ तो उनकी संख्या दो-चार से भी अधिक नही होगी। और यदि मनुष्य-मात्र को इन वर्गो मे रखना सभव हो तथा इन दोनों वर्गों की भाषा में वस्तुतः किसी प्रकार का पारस्परिक भेद हो जबकि ये दोनों वर्ग अनेकानेक भाषाओं से निर्मित होने पर भी अपने-आप में एकरस हों, तो भी उक्त भेद भाषिकी के लिए कोई मूल्य नहीं रखता। इस प्रकार के वर्गीकरण भापिकी में मान्य नहीं हैं। निम्नलिखित पंक्तियाँ भापिकी की अभीप्सित भापा के स्वरूप का सकेत करती हैं :—

उनके भी पीछे लक्ष्मण थे, कहा राम ने कि तुम कहाँ
विनत वदन से उत्तर पाया—तुम मेरे सर्वस्व जहाँ
सीता बोलीं कि ये पिता की आज्ञा पर सब छोड़ चले
पर देवर! तुम त्यागी बनकर क्यों घर से मुख मोड़ चले?

यहाँ तीन व्यक्तियों की परस्पर बातचीत का उल्लेख है जो किसी एक भापा में की जा रही है। तीनो व्यक्तियो को किन्ही वर्गो में रखना अनावश्यक है। तीनों ही किसी एक भाषा-समुदाय के सदस्य है। भाषिकी के लिए यही दृष्टिकोण मान्य है।

६. यहाँ इस बात परि भी विचार कर लेना चाहिए कि ग्रामोफ़ोन, टेप रिकार्डर, रेडियो और टेलीफोन पर हम जिसे सुनते हैं, वह भाषा है कि नहीं। ऊपर

---

§ लोग ईसा, महात्मा गांधी और भगवान बुद्ध आदि को सर्वांगसज्जन कहना पसन्द करेंगे। नाथूराम गोडसे आदि कदाचित् हम लोगों को सर्वांगदुष्ट ही प्रतीत हों।

कहा जा चुका है कि भाषिकी की रुचि मनुष्य द्वारा उच्चरित भाषा में ही है। यहाँ हम यंत्रों से सुनी हुई भाषा की बात कर रहे है। वास्तव मे, ये सब भाषिकी के लिए भी भाषा के वैध रूप है क्योकि इनका उच्चारण मनुष्य ही करता है। यत्र या तो उसे सुरक्षित कर लेते है या तुरन्त दूर तक प्रेषित कर देते है। किन्तु यह बात अवश्य है कि मनुष्य का उच्चारण सीधे सुनने मे यान्त्रिक विकृतियाँ नही आती, इसलिए अधिक सुविधा रहती है। इस दृष्टि से यत्र त्रुटिपूर्ण यद्यपि अपने-अपने स्थान पर वे अधिक उपयोगी भी है।

जिसे हम लिखते हैं या पढ़ते है, वह भी हमारी उच्चरित भाषा का प्रतिरूप है। इतना अवश्य है कि उसमें हमारे उच्चारण की बहुत-सी बाते अप्रकट रह जाती हैं। एक तो वैसे ही इस लिखित रूप का स्थान गौण है ; दूसरे उसमें कुछ न्यूनताएँ भी रह जाती है। इन सीमाओं को समझ लेने के बाद हम लिखित रूप का तिरस्कार नही करते, आवश्यकतानुसार उससे यथासभव लाभ उठाते है। किन्तु इस दिशा में एक भ्रम से बचे रहना चाहिए जो निम्नलिखित पंक्तियों में विद्यमान है :—

यू अउरौ भा एकु तमासा।
पढ़ै लाग अँगरेजी भासा॥

कोई भाषा 'पढ़ी' नही जाती, 'सीखी' जाती है। इसके लिए हमे उस भाषा के बोलने वालो में रहना होता है और जैसा वे बोलते हैं, वैसा ही बोलना होता है। दुर्भाग्यवश, सर्वदा और सर्वत्र ऐसा होता नही। हम लोग अँगरेजी भाषा 'सीखते' नहीं रहे हैं, वस्तुत: 'पढ़ते' ही रहे है, हम लोगों ने अँगरेजों के मुँह से सुनकर अँगरेजी नही सीखी है, अँगरेजी की पुस्तकों से सीखी है। और 'भाषा' बोली जाती है, लिखी या छापी नहीं जाती। इसीलिए हमने अँगरेजी की पुस्तको से पढ़करजो सीखा है, वह अँगरेजी नही है, अँगरेजी का एक विगडा हुआ रूप है। इसे कुछ विदेशी 'बाबू§ इंग्लिश' कहते हैं, कुछ 'भारतीय इंग्लिश'।

भाषा हम लिखी हुई पुस्तको से सीखते नहीं है ; सीखी हुई भापाओं को पुस्तकों में लिख देते है।

७. इस प्रकार 'भाषा' के दोनो अर्थों को ग्रहण करने में निम्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से लक्षित होती हैं :—

(क) प्राणी या पदार्थ निष्क्रिय रहते हैं। स्वाभाविक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं। वे किसी पर कुछ व्यक्त नही करना चाहते। हमारा भावुक मन प्रसगानुसार अर्थ ग्रहण कर लेता है और भाषा की स्थिति निहित मान ली जाती है। उदाहरणार्थ:—

---

§ बाबू अर्थात् क्लर्क।

(१) इस संपन्न नगर में विपन्नता का साकार रूप-सा यह भिखारी चिल्ला-चिल्लाकर दुनियाँ को बता रहा है कि········।

(२) किसी निर्दय स्वामी का घर से निकाला हुआ यह असहाय बूढ़ा कुत्ता ········कह रहा है।

(३) एक तारा टूटकर क्या कह गया !

(४) जो फूल अपनी सुवास से सारा उपवन सुवासित किए था, शाम को मुरझाकर गिरते समय उसने क्या कहा !

(ख) इस प्रकार की स्थिति की कल्पना प्रत्येक सञ्ज्ञा शब्द के साथ की जा सकती है, चाहे वह किसी भाव का द्योतक हो, चाहे क्रिया का, चाहे किसी वस्तु या अवस्तु का। उदाहरणार्थ :—

(१) मानिनि ! तुम्हें पुकार रहा है द्वार खड़ा ऋतुराज।

(२) अनस्तित्व दे रहा चुनौती जीवन को।

(३) तुझे पुकार रहा है रोना, हँसना तेरे यार को।

(ग) प्राणी कोई कार्य करते हैं जो मन की भावना की नैसर्गिक अभिव्यक्ति अधिक होता है, सोचकर प्रयुक्त किया जानेवाला भाषा का रूप कम। उदाहरणार्थ:—

(१) मनुष्य का हँसना-रोना।

(२) श्रमिक मधुमक्खी का नृत्य।

(३) बछड़े के दूर जाने पर गाय का रँभाना।

(घ) मनुष्यों द्वारा अमौखिक संकेतों का प्रयोग। उदाहरणार्थ:—

(१) हाथ जोड़ना।

(२) सिर हिलाना।

(३) अँगूठा दिखाना।

(ङ) मनुष्य की उच्चरित भाषा। लिखित भाषा भी इसी के अन्तर्गत आएगी, 'घ' के अन्तर्गत नहीं क्योंकि वह उच्चरित भाषा का ही गौण प्रतिरूप है। उच्चरित भाषा से पृथक् और उसके बिना लिखित भापा की कोई सत्ता नहीं होती। हम उच्चरित भाषा ही तो लिखते है। अंधों की भाषा भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आएगी क्योंकि वह भी उच्चारण पर आश्रित है। 'घ' वर्ग के रूप उच्चरित भाषा पर आश्रित नहीं है।

और, मनुष्यों की इसी उच्चरित भाषा का अध्ययन हम भाषिकी के अन्तर्गत करते हैं।

दूसरा अध्याय

भाषा की परिभाषा

१. **भाषा यादृच्छिक वाक्प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है** । इस परिभाषा के कई अंग हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे ।

२. निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़िए —

(क) रुरुरुरुरु रुरुरु रुरुरु रुरु रु रुरुरुरुरुरुरुरु········।

(ख) कुरु कुरु कुरु कुरुकुरु कुरुकुरु कुरु कुरु·········।

(ग) कुरुरु कुरुरु कुरुरु कुरुरु·········।

(घ) कुकुरु कुकुरु कुकुरु कुकुरु कुकुरु·········।

(ङ) कुकुरुरु कुकुरुरु कुकुरुरु कुकुरुरु कुकुरुरु कुकुरुरु········।

इन पंक्तियों का अर्थ तो कुछ है ही नहीं, किसी हिन्दी-भाषी को इनका रूप भी स्वाभाविक नहीं लगेगा । इसका कारण यह है कि इनमे जिस प्रकार की व्यवस्था हमें दिख रही है, वह हिन्दी भाषा में **व्यवस्था** नहीं कही जा सकती । किसी एक ही ध्वनि की या ध्वनि-समूह की अनन्त आवृत्ति हिन्दी भाषा में नहीं दिखाई देती । इस दृष्टि से उपर्युक्त पंक्तियाँ हिन्दी की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है । अब निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़िए :—

(क) ड़ीकल से एक ढोसरा ङीवेल गया ।

(ख) णीरी मे ञारा कुकुड़ला ।

ये दोनों पंक्तियाँ एक दृष्टि से कुछ कम गड़बड़ लगेगी । इनके कुछ ध्वनि-समूह उसी क्रम से आये हैं, जिस क्रम के लिए हिन्दी की व्यवस्था अनुमति देती है । किन्तु कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी आई है जो प्रथम पक्ति-समूह को देखते हुए हिन्दी की व्यवस्था का अधिक उल्लंघन करती है । 'रु' और 'कु' जिन शब्द-स्थितियों मे आये हैं, वे हिन्दी के लिए स्वाभाविक है । लेकिन हिन्दी की व्यवस्था ड़—ढ—ङ—ण—ञ का प्रयोग शब्द के आरंभ मे नही होने देती । इस दृष्टि से ये पंक्तियाँ भी हिन्दी की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है । अब निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़िए :—

(क) लोश के वैशल्य की पौरन्यता वेक्लित है ।

(ख) तरीय का आंपित मैकुल्य प्रशेषणीय है ।

जहाँ तक हिन्दी की ध्वनि-व्यवस्था का संबंध है, ये दोनों पंक्तियाँ निर्दोष है। प्रत्येक भाषा की ध्वनि-व्यवस्था इस बात का निश्चय करती है कि उसमें कितनी और कौन-कौन सी ध्वनियाँ हो सकती है तथा वे ध्वनियाँ कितने लम्बे शब्दों को बनाने के लिए किस क्रम से आ सकती है। उपर्युक्त पंक्तियों मे जो लिपिचिन्ह व्यवहृत हुए हैं, वे हिन्दी की व्यवस्था के अनुकूल है (यहाँ यह बात अप्रासंगिक होगी कि 'ष' का उच्चारण कैसा होता है। उच्चारण-सबंधी विशेषताओं की लिपि से तुलना करने से यहाँ कुछ भी सिद्ध या असिद्ध नही होता)। इसके बावजूद यदि ये पंक्तियाँ किसी हिन्दी-भाषी को ग्राह्य न हो तो इसका कारण यह नही है कि इनकी 'व्यवस्था' में कोई दोष है, इसका कारण कुछ और ही है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

इसी प्रकार जो ध्वनि-समूह 'शब्द' नामक इकाई बनाते है, वे शब्द के स्तर पर भी एक व्यवस्था का अनुसरण करते है। निम्नलिखित पंक्तियों मे ध्वनि-व्यवस्था निर्दोष है; किन्तु शब्द-व्यवस्था ठीक नही है :—

(क) में उस गया राम के वाह !

(ख) राम श्याम आया गया ने में कौन।

इसी भाँति प्रत्यय आदि शब्द से छोटे तत्त्व किसी भी शब्द में जुड़ने के लिए स्वतंत्र नही हैं। इसकी भी एक व्यवस्था है। उदाहरणार्थ:—सुन्दरता, पाडित्य, चतुराई, सफेदी, कालिमा आदि शब्द हिन्दी को स्वीकार हैं, किन्तु *पंडितता, *पंडिती, *पडितिमा, *सुन्दराई, *सुन्दरिया, *चंतुरी, *चतुरिमा, *सफेदता, *साफेद्य, *सफेदाई, *सफेदिमा, *कालाता, *काल्य, *कालाई आदि शब्द हिन्दी की व्यवस्था के निर्णयानुसार अशब्द हैं।

इन सारे उदाहरणों के विपरीत, निम्नलिखित वाक्य हिन्दी की ध्वनि-व्यवस्था के अनुरूप हैं क्योंकि इनमें वही ध्वनियाँ प्रयुक्त हुई है जिनके लिए हिन्दी अनुमति देती है, वे शब्दों में उन्ही स्थितियों में आई हैं जो हिन्दी के लिए स्वाभाविक हैं, उनका सयोजन उतने ही बड़े भागों में हुआ है जो हिन्दी के शब्दों की माप के अनुकूल हैं। इसी प्रकार इनकी शब्द-व्यवस्था भी हिन्दी के विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यय आदि ठीक-ठिकाने से जोड़े गये है, शब्द उसी क्रम से रक्खे गये हैं जो हिन्दी की वाक्य-रचना के द्वारा समर्थित है। देखिए :—

(क) कल प्रातःकाल आपकी उपस्थिति प्रार्थित है।

(ख) भाषिकी का अध्ययन-अध्यापन भारतवर्ष में निरंतर बढ़ रहा है।

(ग) मनुष्य सौन्दर्य का उपासक है।

(घ) विद्या-व्यसनी व्यक्ति को मानसिक संकीर्णताओं से मुक्त होना चाहिए।

(ङ) विनय और स्वाभिमान, मृदुता और सत्यवादिता का सन्तुलित समन्वय ही व्यक्तित्व के विकास की पराकाष्ठा है।

३. हमारी परिभाषा के अनुसार यह व्यवस्था **वाक्प्रतीकों** की होती है। वाक्प्रतीक का तात्पर्य यह है कि उसका उच्चारण मुँह से हुआ हो और उसका कुछ अर्थ हो। यदि अर्थ नही है तो प्रतीकात्मकता नही मानी जायगी। पीछे आरम्भ मे जो व्यवस्था की दृष्टि से सदोष या निर्दोष पक्तियाँ दी गई है, उनमें प्रतीकात्मकता नहीं है। 'कुकुरु' का कुछ अर्थ नही है। इसी प्रकार 'लोश', 'वैशल्य', 'पौरन्यता,' 'वेक्लित', 'तरीय', 'आंपित', 'मैंकुल्य', 'प्रशेषणीय' भी प्रतीक नहीं है। यदि हम दीवाल पर 'चिड़िया' लिख दे तो यह एक प्रतीक है ; अँगुली हिलाकर किसी को बुलाएँ तो यह भी एक प्रतीक है लेकिन ये वाक्प्रतीक नहीं है। वाक्प्रतीक वही होते हैं जिनमे 'वाक्' या 'वाणी' कार्य करे। निम्नलिखित शब्द और वाक्य पढ़िए। जब आप मुँह से इनका उच्चारण करेंगे तो ये वाक्प्रतीक होंगे क्योंकि इनमें प्रतीकात्मकता अर्थात् अर्थ भी है।

(क)	(ख)	(ग)	(घ)	(ङ)
कमल	वह	खाया	सुन्दर	यहाँ
आराम	वे	गई	सुकुमार	उधर
बेचैनी	तू	हँसे	श्यामल	ऊपर
कुर्सी	तुम	आओ	उदार	नीचे
आमदनी	मै	रोना	स्वस्थ	कहाँ
उदारता	हम	पिएगा	खिन्न	धीरे
दर्प	तुम्हे	ले	गभीर	तभी
वर्षा	हमारा	उठा	पुराना	सहसा
अध्ययन	उसे	मारा	चिड़चिड़ा	निरन्तर
पुस्तकालय	मुझे	गाता	शान्त	व्यर्थ

(क) मैं कल वाराणसी गया था।

(ख) सागर विश्वविद्यालय एक विख्यात विश्वविद्यालय है।

(ग) आगरे की सैर की जाय !

(घ) अध्ययन करो अध्ययन !

(ङ) भारतवर्ष में राजनैतिक स्थिरता का श्रेय बहुत कुछ हमारे प्रधान मन्त्री को है।

चूँकि वाक्प्रतीक अर्थवान् होते है और शब्द या शब्दांश-स्तर पर उनकी ध्वनि-व्यवस्था स्वतः भाषा की प्रकृति का अनुसरण करती है, इसलिए इस परिभाषा में ध्वनि-स्तर पर उस 'व्यवस्था' का अलग से उल्लेख करने की आवश्यकता ही नही

पड़ती जिसकी ओर हमने आरभ मे संकेत किया है। इससे 'लोश' और 'वैशल्य' जैसे अनुक्रमों की संभावना पर भी विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

४. हमारी परिभाषा के अनुसार ये वाक्प्रतीक **यादृच्छिक** होते है। इसका अर्थ यह है कि हमने जिन भावो, वस्तुओं के लिए कुछ शब्द चुने हैं, उनसे उनका कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। एक विशेप प्रकार के फूल को हम 'गुलाब' इसीलिए कहते हैं कि हम परम्परागत रूप से उसे 'गुलाब' कहते आ रहे हैं। एक विशेष जानवर का द्योतन हम 'गाय' शब्द से केवल इसीलिए करते है कि हमने जिन लोगो से भाषा सीखी है, वे भी उसे 'गाय' ही कहते थे। स्वयं उस जानवर में ऐसा कोई गुण या लक्षण नही है जो हमे उसको 'गाय' कहने के लिए विवश करे। हम उसे *पाऊ, *भूना, *टेले, *कोचू या *सूक्लिन' भी कह सकते थे, यदि हमारे साथी हमारे प्रस्ताव को स्वीकार करते। चिड़िया को हम 'खग' ही कहें, यह आवश्यक नही है, उसे हम 'पक्षी' भी कह सकते है। उसमें स्वतः कोई ऐसा गुण नहीं है, जिसके कारण हमें उसे 'खग' कहना पड़ता हो। वह 'आकाशगामी' है, इसलिए हम उसे खग कहते है, यह तर्क भाषा की यादृच्छिकता का खडन नही करता। यदि ऐसा ही है तो हम वायुयान को भी 'खग' कहते होते और अब रूस और अमरीका के अन्तरिक्ष-यात्रियों को भी 'खग' कहना प्रारम्भ कर दिया होता। हम पक्षियों को ही 'खग' इसलिए कहते हैं कि परम्परानुसार हम 'खग' शब्द में इसी अर्थ का ही समावेश करते रहे है। यदि 'खग' शब्द का अर्थ 'आकाशगामी' भर होता और उसे प्रत्येक आकाशगामी जीव या वस्तु के लिए प्रयुक्त किया जाता होता तो भी वह अयादृच्छिक न होता। 'ख' को हम आकाश का अर्थ देते हैं, यह भी परम्परा की बात है, वर्ना हम इस शब्द का प्रयोग न करने के लिए भी स्वतन्त्र थे, आकाश के द्योतन के लिए किसी अन्य शब्द का प्रयोग करने के लिए भी स्वतंत्र थे और 'ख' का प्रयोग किसी भी अन्य अर्थ के लिए करने को स्वतंत्र थे। इसी प्रकार 'जानेवाला' को दुनियाँ में 'ग' ही कहा जाय, ऐसी कोई विवशता नहीं है और 'ग' का अर्थ दुनियाँ को 'जानेवाला' ही मानना पड़ेगा, ऐसा भी कोई विधान नहीं है।

भाषा की इस यादृच्छिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है भाषाओं की विविधता। यदि वाक्प्रतीक यादृच्छिक न होकर अनिवार्य होते तो सारा ससार एक ही भाषा बोलता होता। हिन्दी या संस्कृत न जाननेवाले 'वृक्ष' का अर्थ नही समझ पाते। अँग्रेजी न जाननेवाले 'ट्री' का अर्थ नहीं जानते। यदि कोई समुदाय चाहे तो वृक्ष या ट्री को किसी और ही शब्द से द्योतित करने लगे। सभी लोग उस नये शब्द का ही प्रयोग प्रारंभ कर दें तो वृक्ष का अर्थ देनेवाला शब्द कोई भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, बौम, आर्बर, देन्द्रोन, क्रैन, देरव, मेदिस, कुओक्स, अग़ज सरीखा कोई भी शब्द उसी वस्तु के लिए धड़ल्ले के साथ प्रयुक्त हो सकता है, जिसे हम 'वृक्ष' या 'पेड़'

या 'बिरवा' आदि कहते हैं। और ये शब्द काल्पनिक नही हैं, इनका प्रयोग सचमुच इसी अर्थ में होता है। जर्मन, लैटिन, ग्रीक, आइरिश, रूसी, लिथुआनियन, लेटिश और तुर्की बोलनेवाले लोग वृक्ष के अर्थ में क्रमशः इन्ही वाक्प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। यह वाक्प्रतीको की यादृच्छिकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि कोई भी व्यक्ति जिस समय चाहे, किसी भी वस्तु या भाव के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग आरंभ कर दे। भाषा एक व्यक्ति की नहीं होती, समाज की होती है और यह यादृच्छिकता भी सम्मिलित रूप से सम्पूर्ण समाज की हो सकती है। यदि केवल दो व्यक्ति किन्हीं नये वाक्प्रतीकों के प्रयोग के लिए सहमत हो जायँ तो उनकी व्यवस्था उन दोनों व्यक्तियों के लिए 'भाषा' होगी। किन्तु अकेला व्यक्ति आकर कुछ का कुछ कहने लगे तो लोग उसे पागल ही समझेंगे।

५. हमारी परिभाषा का अन्तिम अंश यह है कि भाषा के माध्यम से मानव-समुदाय **परस्पर व्यवहार** करता है। इस कथन का अभिप्राय यह नही है कि परस्पर व्यवहार करने के लिए मानव-समुदाय के पास और कोई साधन है ही नही। किसी रास्ता चलते व्यक्ति को देखकर हम दोनो हाथ जोड़ देते है और बदले मे वह अपना एक हाथ सिर की ओर उठा देता है। हमारा व्यवहार सम्पन हो गया और वाक्प्रतीकों की व्यवस्था की शरण लेने की आवश्यकता हमें नही पडी। रेलगाड़ी से जाते हुए किसी व्यक्ति को विदाई देते हुए हम रूमाल हिला रहे है, बदले में वह भी रूमाल हिला रहा है। यहाँ भी हमारा कार्य वाक्प्रतीको की व्यवस्था के आश्रय के बिना ही सम्पन्न हो रहा है।

किन्तु इस प्रकार के आचरण हमारे सारे व्यवहार सम्पन्न कराने में समर्थ नहीं हैं। हमे जिन-जिन माध्यमों का सहारा लेना पड़ता है, उनमें भाषा सर्वप्रमुख और सर्वाधिक समर्थ है। भाषा के माध्यम से हम परस्पर व्यवहार करते हैं, इस बात को हम यों भी कह सकते है कि भाषा के माध्यम से हम दो चेतामंडलों का अन्तर मिटा देते हैं। इसका अर्थ क्या है?

मान लीजिए, मीना नामक एक बच्ची को प्यास लगती है। इस सचमुच की प्यास को यदि हम 'स्फुरण' नाम दें तो इस स्फुरण की स्वाभाविक 'प्रतिक्रिया' यह होनी चाहिए कि वह बच्ची दौड़ कर पड़ोस के कुएँ पर जाय और पानी खींचकर पी आए। यहाँ जिस व्यक्ति को सचमुच का स्फुरण हुआ, उसी पर सचमुच की प्रतिक्रिया भी हुई। इस स्थिति में चेतामंडल एक ही रहता है :—

स्फु० ————→ प्रति०

किन्तु मान लीजिए वह बच्ची कुएँ से पानी नहीं खीच सकती। उसके सामने दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि वह अपने बड़े भाई अशोक से कह दे कि उसे प्यास लगी है अर्थात् अपने वास्तविक स्फुरण के बदले में एक वाक्प्रतीकों की

अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया प्रकट कर दे। मीना की यह मौखिक प्रतिक्रिया अशोक के लिए एक कृत्रिम स्फुरण का कार्य करेगी ; 'कृत्रिम' इसलिए कि उसे स्वयं प्यास नही लगी है, 'स्फुरण' इसलिए कि उस पर प्रतिक्रिया होनी है। अशोक कुएँ पर जाता है और पानी खींचकर मीना के लिए ले आता है। वास्तविक स्फुरण मीना को हुआ किन्तु वास्तविक प्रतिक्रिया अशोक पर हुई। दो चेतामंडलों का अन्तर यहाँ समाप्त हो गया :—

मीना
स्फु०————→(प्रति०)
अशोक
(स्फु०)————→प्रति०

और इस प्रकार दो चेतामंडलों के कार्य-स्वरूप मूल स्फुरण के बदले में स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी सम्पादित हो गई :—

स्फु——->(प्रति०)…………(स्फु०)———→प्रति०

यह परस्पर व्यवहार करने का एक उदाहरण हुआ।

६. ऊपर हमने कहा है कि भाषा के माध्यम से मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है। यहाँ मानव-समुदाय से हमारा तात्पर्य सम्पूर्ण संसार के मानव-समुदाय से है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि हम जो भाषा बोल रहे हैं, उसके माध्यम से हम संसार में सर्वत्र व्यवहार कर सकते हैं। संभव है जिस देश में हम पहुँचे है, वह हमारी भाषा के बजाय कोई दूसरी भाषा बोलता हो। लेकिन इससे न हमारी भाषा अ-भाषा हो जाती है, न उस देश की भाषा अ-भाषा होती है। अन्तर इतना है कि ये दोनों भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं और ऐसी भिन्न भिन्न भाषाएँ दुनियाँ में तीन-चार हज़ार है। प्रत्येक भाषा के समझनेवाले लोग दुनियाँ मे हैं लेकिन ऐसा कोई व्यक्ति नही है जो दुनियाँ की सब भाषाएँ समझता हो।

ऐसी स्थिति में 'मानव-समुदाय' की महत्तम सीमा न निर्धारित करके लघुतम सीमा निर्धारित करना ही अधिक संगत है। यह लघुतम सीमा है दो व्यक्तियों की। भाषा के लिए कम-से-कम दो व्यक्ति अनिवार्य हैं जो क्रमशः वक्ता और श्रोता का स्थान ग्रहण कर सकें तथा प्रसंगानुकूल वक्ता श्रोता और श्रोता वक्ता बन सके।

तीसरा अध्याय

भाषा का रूप : भाषा की उपव्यवस्थाएँ

१. भाषा एक व्यवस्था है, इस निष्कर्ष पर हम पहुँच चुके हैं। वस्तुतः भाषा के अन्तर्गत अलग-अलग स्तर की, परस्पर सबद्ध किन्तु पृथक्-पृथक्, कई व्यवस्थाएँ होती है। इन्हें हम भाषा की उपव्यवस्थाएँ कह सकते है। इनमें से तीन केन्द्रीय हैं और दो बाह्य। केन्द्रीय व्यवस्थाएँ निम्नलिखित है :—

(१) व्याकरणिक व्यवस्था:—किसी भाषा के मर्षिम इस व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं और उन मर्षिमों का तथा मर्षिमानुक्रमों का सयोजन भी इसी व्यवस्था का विषय है। इस प्रकार मर्षविज्ञान और वाक्यविज्ञान इसके अंग हैं।

(२) स्वानिमिक व्यवस्था:—किसी भाषा के स्वनिम इस व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं और उन स्वनिमों का सयोजन भी इसी व्यवस्था का विषय है।

(३) मर्षस्वानिमिक व्यवस्था:—यह व्याकरणिक तथा स्वानिमिक व्यवस्थाओं को जोड़नेवाली कड़ी है जो मर्षिमों की स्वानिमिक आकृति से संबंध रखती है।

ये केन्द्रीय व्यवस्थाएँ भाषा के स्वरूप से सीधा संबंध रखती है। यदि हम व्यक्ति और प्रसग के महत्त्व को थोड़ी देर के लिए भुला दें और भाषा को एक स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करे तो ये तीनों व्यवस्थाएँ हमे उसके अवयवों के रूप में दिखाई देंगी और यह स्थिति काल्पनिक नही है। यह ठीक है कि किसी भाषा को सीखने के लिए अथवा भाषिक के रूप में उसका विश्लेषण करने के लिए हमें सर्वप्रथम व्यक्ति का आश्रय लेना पड़ता है जो वक्ता और श्रोता का कार्य करता है। उससे हमें वास्तविक भाषण और उच्चारण प्राप्त करना पड़ता है। इसी के आधार पर हम भाषा की क्रियाशील इकाइयों तक पहुँच सकते है। दूसरी ओर प्रसंग की उपेक्षा करना भी हमारे लिए असंभव है। भाषा का कार्य है अर्थ व्यक्त करना, विविध प्रसंगों में व्यक्तियो के आचरण का नियमन करना और बाह्य परिस्थितियों के संबंध में कुछ प्रकट करना। इस प्रकार भाषा क्रियाशील है और उसकी इकाइयाँ 'क्रियाशील' हैं, इसकी जाँच करने के लिए हमें बाह्य परिस्थितियों की परीक्षा करनी ही पड़ेगी। भाषा के उच्चरित स्वरूप तथा सांसारिक परिस्थितियों का निरीक्षण करके ही हम भाषा के शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। इसी निरीक्षण के द्वारा हम उपर्युक्त केन्द्रीय व्यवस्थाओं का भावानयन कर पाते है जो भाषा-प्रवृत्ति के अपने

विशिष्ट प्ररूपो सहित हमारे मस्तिष्क मे प्रतिष्ठित होती है; जो व्यक्ति के लिए नही, समाज के लिए यथार्थ होती है।

२. यही दोनों तत्त्व भापा की निम्नलिखित दोनो बाह्य व्यवस्थाओ के विषय है :—

(१) स्वनिक व्यवस्था:—यह व्यवस्था स्वनो से सम्बन्ध रखती है। किस प्रकार कोई स्वनिम अथवा स्वनिमो का कोई अनुक्रम किमी वक्ता की उच्चारण-प्रक्रिया द्वारा ध्वनि-तरंगों का रूप ग्रहण करता है और किसी श्रोता द्वारा प्राप्त तथा स्वीकृत किया जाता है, यह इस व्यवस्था का विषय है।

(२) सीमान्तिक व्यवस्था:—यह व्यवस्था मर्षिमों, मर्षिमो के अनुक्रमों तथा मर्षिमो के संयोजनों को वस्तुओ तथा परिस्थितियों से जोड़ती है। इस व्यवस्था का कार्य-क्षेत्र इस भाँति अर्थ-विचार है।

ये दोनों उपव्यवस्थाएँ अन्तःस्थ व्यवस्थाएँ है। स्वनिक व्यवस्था एक ओर स्वानिमिक व्यवस्था को छूती है, दूसरी ओर कुछ भौतिक वायु-तरंगों का स्पर्श करती है जो वाक्संकेतो की ऐसी ध्वनि-तरंगें होती है जिनका भौतिक रूप से विश्लेषण किया जा सकता है। सीमान्तिक व्यवस्था एक ओर व्याकरणिक व्यवस्था को छूती है क्योंकि व्याकरण अर्थवान् इकाइयो से सम्बन्ध रखता है और दूसरी ओर वह सासारिक परिस्थितियों तथा वस्तुओं को छूती है, जिन्हे हम सामान्यतः अर्थ कह कर जानते है।

३. यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'केन्द्रीयता' अथवा 'बाह्यता' इन उपव्यवस्थाओ के महत्त्व की माप नही करती। उपर्युक्त पाँचों व्यवस्थाएँ समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। यह अलग बात है कि आकृतिवादी भापिक सामान्यतः केन्द्रीय उपव्यवस्थाओ के विश्लेषण-वर्णन से ही सतुष्ट हो जाते है, बाह्य उपव्यवस्थाओ पर ध्यान नही देते। ऐसे विद्वान् भी हुए है और है जो केवल बाह्य उपव्यवस्थाओं से सतुष्ट हो गए है, केन्द्रीय उपव्यवस्थाओं की ओर आकृष्ट नही हुए। यों उल्लेखनीय कार्य की सबसे अधिक कमी सीमान्तिकी मे है। इसका एक कारण यह भी है कि कुछ विद्वान् इसे भापिकी का विवेच्य विषय न मानकर मनोविज्ञान का विपय समझते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कुछ लोग स्वानिकी को शरीरविज्ञान तथा भौतिकी के अन्तर्गत समाविष्ट करते है। इसका एक कारण यह भी है कि इन बाह्य व्यवस्थाओ का विवेचन केन्द्रीय व्यवस्थाओं की अपेक्षा कठिन है।

ऊपर कहा जा चुका है कि भापा के केन्द्रीय स्वरूप तक पहुँचने में ये बाह्य व्यवस्थाएँ प्रारभिक सीढ़ियो का काम करती है और अब यह कहा जा रहा है कि ये दोनो व्यवस्थाएँ अपेक्षाकृत कठिन हैं तथा इन पर सन्तोपजनक कार्य भी कम हुआ है। इन दोनो वक्तव्यों मे अन्तर्विरोध-सा प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः ऐसा

नही है। केन्द्रीय उपव्यवस्थाओ तक पहुँचने के लिए बाह्य उपव्यवस्थाओ की सामग्री का साधारण-सा सहारा लेना और इन बाह्य उपव्यवस्थाओ को स्वतंत्र अस्तित्व देकर उनका अपने-आप मे विवेचन-विश्लेपण करना—ये दो भिन्न बातें है। भाषिकी के अन्तर्गत सीमान्तिकी को न रखने के समर्थकों का विरोध करते हुए कुछ विद्वान् यह तर्क देते हैं कि अर्थ-भेदकता की चर्चा स्वानिमी में भी होती है और अर्थवत्ता की चर्चा व्याकरण में भी होती है, इसलिए अर्थ अपरिहार्य है और इसलिए सीमान्तिकी भाषिकी का अनिवार्य अंग है। उपर्युक्त कथन को ध्यान में रखने से इस प्रकार के भ्रामक मतो की सभावना नही रहेगी। मैं यहाँ इस बात का समर्थन या विरोध नही करना चाहता कि सीमान्तिकी भाषिकी का एक अनिवार्य अग है, मेरा अभिप्राय केवल इतना है कि यदि इस धारणा का समर्थन करना है तो उपर्युक्त तर्क से कार्य न चलेगा, इसके लिए अन्य तर्क खोजने पड़ेगे। स्वानिमी के लिए हम ऐसा पूछते है कि अमुक उच्चार किसी भाषाभाषी को एक-से सुनाई देते है या परस्पर-भिन्न। किन्तु इतना पूछना उन स्वनों की विस्तृत भौतिक परीक्षा तो नही है। इसी प्रकार मिलते-जुलते अथवा भिन्न उच्चार एक ही अर्थ रखते हैं या नही, यह पूछना अर्थ के विश्लेषण-विवेचन से भिन्न बात है।

४. इन पाँचों उपव्यवस्थाओं पर हम सामान्य ढग से क्रमशः विचार करेगे। इनमें बाह्य व्यवस्थाओं को पहले लेने से सुविधा रहेगी (कारण की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है)।

स्वानिकी

५. **स्वानिकी में हम ध्वनियों के भौतिक शरीर की परीक्षा करते हैं।** यहाँ अर्थ से हमारा कोई भी तात्पर्य नही होता। यदि हम किसी व्यक्ति को कोई ऐसी भाषा बोलते सुनें जिससे हमारा तनिक भी परिचय नही है तो हम भाषा की अन्य व्यवस्थाओं की सामग्री खोज पाएँ चाहे न खोज पाएँ, स्वानिकी की सामग्री हमें सबसे पहले प्राप्त हो जायगी। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित अशों का उच्चारण कीजिए :—

(क) ओन ज़्द्येलल दक्लाद ना कन्फ़्येर्येन्त्सिई स्तुद्येन्तफ़ इन्स्तित्यतूता। व व्रेम्य दक्लादा ओन प्रचिताल स्तुद्येन्तम इन्त्येरेस्निय विप्यिस्कि इज़ रूकप्यीस्येय इ दकुम्येन्तफ़। दक्लाद बिल ओच्येन ख़रोशय।

(ख) म्याँ साना सानी दान। दिकिञ्ञा येइ कोञ्कूतेताकू दान। आफय कोञ्जतेताकू दान। म्याँ दिन दी साना सानी अपना येइ बी कोञ्कूकेन सातेन, डोंगोरेन ओलेन।

यदि इन पक्तियों का अर्थ हमें ज्ञात नही है तो हमारे लिए ये ध्वनियों की समूह मात्र है और इस रूप में स्वानिकी के विश्लेषण की सामग्री इनमें विद्यमान है।

किसी गायक के आ········आ········आ की परीक्षा भी हम स्वानिकी मे कर सकते हैं ; हमें यही विचार करना होगा कि इसमें आरोह-अवरोह किस क्रम से और कितना हो रहा है तथा 'आ' का उच्चारण मुख के किस भाग से जिह्वा और ओठों की कितनी तथा कैसी सक्रियता के साथ हो रहा है। भाषिक अर्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता जबकि स्वनज्ञ के लिए अर्थ की उपादेयता नगण्य है।

६. हम जो साँस लेते है, यह साँस ही ध्वनि बन जाती है। अधिकांश ध्वनियाँ फेफड़े से बाहर आनेवाली साँस से बनती है। मार्ग में आनेवाले अंग इस साँस को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करने के लिए विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ ग्रहण करते है और विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। फलत: बाहर आनेवाली इस साँस को अनेक प्रकार के मार्गो से अनेक प्रकार की बाधाओं का सामना अनेक प्रकार से करते हुए आना पड़ता है। इस प्रकार एक ही साँस अनेक प्रकार की ध्वनियो का रूप ग्रहण कर लेती है। वक्ता अपने वागंगों के द्वारा जो क्रियाएँ इस साँस के ऊपर करता है, उनका विवेचन करते हुए हम ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण कर सकते है। उच्चारण के पक्ष से सबधित होने के कारण यह अध्ययन स्वानिकी की जिस शाखा का निर्माण करता है, उसे **औच्चारिकी** कहते है।

मुख से निःसृत यह ध्वनि-श्वास वायु-मडल में ध्वनि-तरंगों का रूप ले लेता है। ये ध्वनि-तरंगें वायुमंडल मे संचरण करने लगती है और श्रोता की ओर बढ़ती है। यन्त्रो की सहायता से इन सचरण कर रही ध्वनि-तरंगो का भी अध्ययन किया जा सकता है। यह अध्ययन स्वानिकी की **सांचारिकी** नामक शाखा का विषय है।

वायु-मंडल मे संचरण कर रही ये तरंगें अन्त मे श्रोता के कर्ण-पुटों में प्रवेश करती है। कान अपनी विशेष श्रवण-प्रक्रिया द्वारा इन तरंगों को ग्रहण कर लेते हैं। इस श्रवण-पक्ष के आधार पर ध्वनियों का अध्ययन स्वानिकी की **श्रौतिकी** शाखा के अन्तर्गत किया जाता है।

औच्चारिक स्वानिकी, सांचारिक स्वानिकी ओर श्रौत स्वानिकी मे से औच्चारिक स्वानिकी का अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक हुआ है और संतोषजनक ढंग से हुआ है। इस पुस्तक मे **औच्चारिकी** का परिचय कुछ विस्तार से दिया जाएगा।

७. बाहर जानेवाली साँस से ही सारी ध्वनियाँ बनती हो, ऐसी बात नही है। कई ध्वनियाँ ऐसी भी होती है जिनका निर्माण अन्दर जानेवाली साँस से होता है। लेकिन इन सभी ध्वनियों के निर्माण में मनुष्य-शरीर के कुछ अंग क्रियाशील होते हैं और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ध्वनियों की विभिन्नता के लिए ये अंग भी उत्तरदायी होते है। ध्वनियों के उत्पादन में सहयोग देनेवाले इन अंगों का

सामूहिक नाम **वाग्यंत्र** है। नीचे वाग्यत्र का चित्र दिया जा रहा है जिसमें विभिन्न **वागंगों** का निर्देश है।
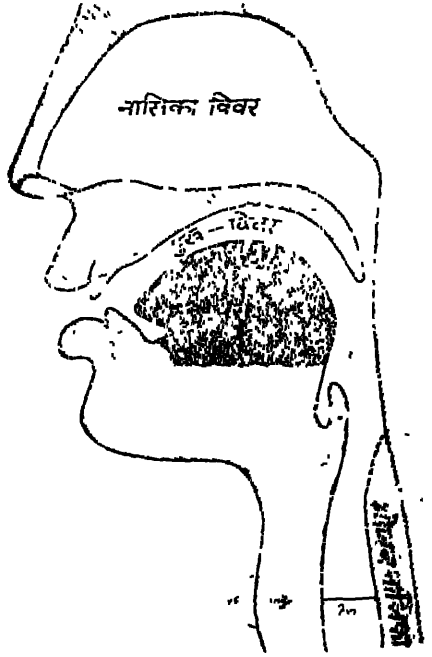
१. ओष्ठ
२. दन्त
३. बर्स्व
४. मूर्धा (कठोर तालु)
५. उत्कंठ (कोमल तालु)
६. अलिजिह्व
७. जिह्वानोक
८. जिह्वाफलक
९. जिह्वाग्र
१०. जिह्वामध्य
११. जिह्वापश्च
१२. जिह्वामूल
१३. नासाद्वार
१४. ग्रसनी
१५. अभिकाकल
१६. स्वरयंत्र
१७. स्वरतंत्रियाँ

८ वाग्यंत्र के इस चित्र मे एक वागंग का निर्देश नहीं है और वह है **फुपफुस** अथवा फेफड़ा। हम उल्लेख कर चुके है कि अधिकांश ध्वनियो का निर्माण फेफड़ों से बाहर आनेवाली वायु के द्वारा होता है। अधिकांश ध्वनियों के उच्चारण

में फेफड़े सक्रियतापूर्वक वायु को बाहर की ओर धकेलते रहते हैं, चुपचाप साँस नहीं निकालते रहते। यह वायु-प्रक्षेप एक विशेष लय में होता है और यही लय हिन्दी, अँगरेजी आदि अनेक भाषाओं में 'वर्णों' का निर्धारण करती है। 'वर्ण' शब्द से हमारा तात्पर्य किसी वर्णमाला के चिह्नों से नहीं है, बल्कि एक स्वनिक इकाई से है जिसके आधार पर पिंगलशास्त्रियों ने 'वर्णवृत्त' निर्धारित किये है।

८·१ फेफड़े से चली हुई वायु **स्वरयंत्र** में पहुँचती है। स्वरयंत्र हमारे वाग्यंत्र का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। कुछ ध्वनियों के निर्माण में समग्र स्वरयंत्र को आवश्यकतानुसार ऊपर-नीचे किया जाता है।

स्वरयंत्र में रंगमंच के पर्दों की भाँति दो तंत्रियाँ होती है जिन्हें **स्वरतंत्रियाँ** कहा जाता है। ये तंत्रियाँ स्वरयंत्र में आगे से पीछे फैली होती है। इनके बीच का अवकाश **काकल** कहा जाता है। ये तंत्रियाँ विभिन्न प्रकार से खुलती और बन्द होती हैं तथा इस प्रकार वायु को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करके ध्वनियों में भेद उत्पन्न करती हैं।
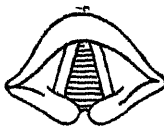
(१) खुली (अघोष) (२) बन्द (३) घोष (४) फुसफुसाहट

पहली स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ दूर-दूर रहती हैं और उनके बीच से निकलती हुई वायु का कोई प्रभाव उनकी स्थिति पर नहीं पड़ता। सारी वायु लगभग निःशब्द-सी गुजर जाती है। इस प्रकार की ध्वनियाँ **अघोष** कही जाती है। दूसरी स्थिति में दोनों स्वरतंत्रियाँ परस्पर सट जाती है और दृढ़तापूर्वक पल भर जुड़ी रहती है। फलस्वरूप वायु का प्रवाह रुक जाता है। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाली ध्वनि का नाम **काकल्य स्पर्श** है। हिन्दी-क्षेत्र की पाठशालाओं में जब बच्चे वर्णमाला याद करते है और 'अ आ इ ई उ ऊ' आदि बोलते है, तब अ, इ, उ के बाद यह ध्वनि सुनाई देती है। तीसरी स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ परस्पर समीप आ जाती हैं और उनके बीच का मार्ग समाप्त-सा हो जाता है। लेकिन स्वर-तंत्रियाँ बहुत दृढ़ता के साथ नहीं जुड़तीं, फलतः वायु अपने निकलने भर का मार्ग बना लेती है। इससे स्वरतंत्रियों में कम्पन होने लगता है। यह कम्पन **घोष** कहा जाता है और जिन ध्वनियों के उच्चारण में यह कम्पन होता है, वे ध्वनियाँ **सघोष** कहलाती हैं। 'ज़्' ध्वनि का कुछ देर तक उच्चारण कीजिए और बीच में कोई स्वर न आने दीजिए। इसका उच्चारण एक निरन्तर ध्वनि के रूप में 'ज़्............' अथवा 'ज़् ज़् ज़् ज़् ज़्' जैसा होना चाहिए। अपना हाथ गले पर सामने की ओर रखिए, आपको कम्पन का अनुभव होगा। अगर आप दोनों कानों में उँगलियाँ डालकर इस ध्वनि का उच्चारण

करेंगे तो आपको एक प्रकार की गूँज सुनाई देगी ; यह घोष के कारण है। इसके विपरीत 'स्..........' अथवा 'स् स् स् स्' का उच्चारण एक निरन्तर ध्वनि के रूप में कीजिए और उपर्युक्त दोनो प्रयोग आजमाइए ; आपको कम्पन और गूँज दोनो ही नहीं मिलेंगे। इसका कारण यह है कि 'ज्' एक सघोष ध्वनि है और 'स्' एक अघोष ध्वनि है। हिन्दी के स्वर सघोष है और व्यंजनों में से कुछ सघोष है, कुछ अघोष। घोष की स्थिति मे स्वर-तन्त्रियों के तनाव में विभेद करने से सुर मे भेद हो जाता है। गवैये जब बैठकर राग अलापते हैं तो सुर के चढ़ाव-उतार के करिश्मे देखने में आते है। **जपन** अथवा फुसफुसाहट चौथी स्थिति है जिसका उत्पादन कई प्रकार से किया जाता है। कभी-कभी स्वरतन्त्रियो के बीच थोड़ा-सा मार्ग रहता है किन्तु उनके समीप वायु मे स्थानीय विक्षोभ होता है, घोष नही होता। कभी-कभी स्वर-तन्त्रियाँ दृढ़तापूर्वक जुड़ जाती है, किन्तु उनके पीछे दर्वीकास्थियाँ अपने बीच से रास्ता बना देती है। अन्य कई प्रकार की जपित ध्वनियो के लिए स्वरतन्त्रियाँ अन्य कई स्थितियाँ ग्रहण करती है। **भनभनाहट** के उत्पादन मे स्वरतंत्रियों मे कम्पन तो होता है किन्तु साथ ही वायु में स्थानीय विक्षोभ भी होता है।

८·२ **अभिकाकल** का कार्य केवल यह है कि भोजन के समय काकल को बन्द कर दे अर्थात् श्वास-नली मे खाने-पीने की वस्तुएँ न जाने दे ताकि ये वस्तुएँ भोजन की नली में ही जायँ। अधिकतर विद्वानो की धारणा यही है कि ध्वनियो के उच्चारण में इसका कोई योग नहीं है।

८·३ स्वरयत्र से लेकर नासाद्वार तक फैला हुआ जिह्वामूल के पीछे का विवर **ग्रसनी** कहलाता है। कभी-कभी जिह्वामूल ग्रसनी की पिछली दीवाल से सटकर वायु का प्रवाह रोक देता है जिससे 'ग्रसनी स्पर्श' नामक ध्वनि उत्पन्न होती है। पूर्ण स्पर्श न करके एक संकीर्ण मार्ग छोड़ देने से वायु सघर्षपूर्वक निकलती है, जिसके फलस्वरूप 'ग्रसनी संघर्षी' नामक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। तीसरी सम्भावना यह है कि ग्रसनी का इतना ही सकोच किया जाय कि उसमे सघर्ष न उत्पन्न हो तथा उच्चारण की प्रक्रिया मुख-विवर मे कही अन्यत्र की जाय। इस प्रकार उच्चरित होने वाली ध्वनिया 'ग्रसनीकृत' हो जाती हैं।

८·४ ग्रसनी के ऊपर स्थित नासिका-विवर का प्रवेश-द्वार **नासा-द्वार** कहलाता है। नासा-द्वार या तो खुला रह सकता है या बन्द हो जाता है। खुले रहने पर वायु का प्रवाह ग्रसनी और नासिका-विवर के बीच होता है, बन्द होने पर नहीं होता। नासा-द्वार बन्द हो तो वायु-प्रवाह ग्रसनी और मुख-विवर के बीच होता है। नासा-द्वार खुला रहने पर बोली जानेवाली ध्वनियों में अनुनासिकता आ जाती है। 'नासिक्य व्यजनो' में ग्रसनी की वायु नासिका-विवर के मार्ग से ही निकलती है। 'सानुनासिक स्वरों' में यह वायु मुख-विवर के साथ-साथ नासिका-विवर से भी

निकलती है। काकल्य स्पर्श और ग्रसनी स्पर्श के उच्चारण में अवश्य ही नासा-द्वार की स्थिति कोई प्रभाव नहीं डालती।

८·५ जिह्वा वस्तुतः हमारे शरीर का एक ही अंग है; किन्तु उसकी गतिशीलता और उसके विविध भागों के कार्य-वैविध्य के कारण उसके कई भाग कर लिये जाते हैं और उन्हे विभिन्न वागगो के रूप मे स्वीकार किया जाता है। इनमे से **जिह्वामूल** जिह्वा के पिछले भाग को कहते है, जहाँ से जिह्वा का अन्त हो जाता है। जिह्वामूल ग्रसनी की पिछली दीवाल की ओर बढ़ सकता है और उसे छू भी सकता है।

८·६ **जिह्वापश्च** जीभ का वह भाग है जो उत्कठ अर्थात् कोमल तालु के नीचे विस्तीर्ण रहता है। यह उत्कंठ की ओर उठ सकता है और उसे छू भी सकता है। इस उन्नयन की मात्रा और पद्धति के अनुसार विविध ध्वनियाँ उत्पन्न होती है। जिह्वापश्च का पीछे की ओर का अन्तिम भाग अलिजिह्व से सम्पर्क कर सकता है।

८·७ जिह्वा का जो भाग मूर्धा अर्थात् कठोर तालु के नीचे विस्तीर्ण रहता है, उसे **जिह्वाग्र** कहते हैं। जिह्वाग्र मूर्धा की ओर उठता है और उसे छू भी सकता है। उन्नयन की मात्रा और पद्धति के अनुसार विविध ध्वनियाँ उत्पन्न होती है। आवश्यकता पड़ने पर जिह्वाग्र के उत्तराश और जिह्वापश्च के पूर्वांश के लिए सम्मिलित रूप से **जिह्वामध्य** शब्द का प्रयोग किया जाता है।

८·८ बर्स्व के नीचे विस्तीर्ण जिह्वा का अश **जिह्वाफलक** कहलाता है। यह ऊपर के दाँतों और बर्स्व से सम्पर्क कर सकता है।

८·९ जीभ का सबसे आगे रहनेवाला विन्दु **जिह्वानोक** है। दाँतों में फँसे हुए किसी वस्तु के टुकड़े की खोज में यह नोक ही दौड़-धूप करती है। मुँह का जो भाग दर्द करता है, उसे सहलाने भी यही नोक जाती है। जीभ के समस्त भागों में नोक सबसे अधिक गतिशील है। यह दाँतों, बर्स्व और मूर्धा की ओर उठकर अनेक प्रकार की क्रियाएँ करती है और छू भी सकती है, जिससे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती है।

८·१० जीभ के पीछे की ओर ऊपर से लटकता हुआ मांस का टुकड़ा **अलिजिह्व** है, जिसे बोलचाल में लोग 'कौवा' कहते है। यह नासा-द्वार बन्द करने मे ऊपर उठकर सहायक होता है, जिह्वापश्च के पिछले भाग से सम्पर्क कर सकता है, उसकी ओर कुछ सीमा तक बढकर रुक सकता है ताकि वायु के लिए एक संकीर्ण मार्ग बना रहे और वायु के झटके से कंपन कर सकता है।

८·११ तालु के भी कई भाग है जिन्हें पृथक्-पृथक् वागंगों के रूप में समझा जाता है। अलिजिह्व के आगे का तालु-विभाग जो अँगुली से छूने पर कोमल प्रतीत होता है, कोमल तालु अथवा **उत्कंठ** कहलाता है। यह जिह्वापश्च का कार्य-क्षेत्र है। नासा-द्वार बन्द करने में यह पीछे की ओर हटता है।

८·१२ उत्कंठ के आगे का कठोर भाग **मूर्धा** अथवा कठोर तालु है। 'मूर्धा'

शब्द का प्रयोग सामान्यतः कठोर तालु के पिछले भाग के लिए अर्थात् मंडलाकार तालु-प्रदेश के शीर्ष-विन्दु के लिए किया जाता है ; किन्तु इस पुस्तक मे इस शब्द का प्रयोग समग्र कठोर तालु के लिए हुआ है। यदि तालु-प्रदेश मे एक अँगुली रखकर दबायी जाय और उसे इसी रूप मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक ले जाया जाय तो पीछे की ओर का भाग कोमल लगेगा और उसमे अँगुली धँसती-सी लगेगी। यह कोमल तालु है। इसके आगे के भाग में अँगुली नही धँसेगी और यह भाग कठोर प्रतीत होगा। यही प्रदेश मूर्धा अर्थात् कठोर तालु है। अँगुली के बजाय इन भागो का अनुभव जिह्वानोक से भी किया जा सकता है। मूर्धा जिह्वाग्र तथा जिह्वानोक का कार्य-क्षेत्र है।

८·१३ मूर्धा के और ऊपर के दाँतो के बीच का भाग **बर्स्व** है। अँगुली अथवा जिह्वानोक से छूने पर ऊपर के दाँतों के पीछे उठा हुआ एक खुरदुरा भाग मिलता है। इसी का नाम बर्स्व है। यह जिह्वानोक और जिह्वाफलक का कार्य-क्षेत्र है।

८·१४ दाँतो के लिए **दन्त** शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु वास्तव में ध्वनियो के उच्चारण मे ऊपर के दाँतो का ही महत्व है और 'दन्त' से हमारा तात्पर्य अधिकतर उन्ही से होता है। यह जिह्वानोक, जिह्वाफलक और निचले ओठ का कार्य-क्षेत्र है।

८·१५ **ओष्ठ** शब्द का प्रयोग यों तो दोनो ओठों के लिए होता है ; किन्तु इनमें निचला ओठ अधिक सक्रिय होता है। यह ऊपर के ओठ के अतिरिक्त ऊपर के दाँतों से भी सम्पर्क स्थापित करता है। ऊपर का ओठ नीचे के ओठ का कार्य-क्षेत्र है। ऐसी ध्वनियाँ नही प्राप्त हुई है जिनमे ऊपर का ओठ नीचे के दाँतो अथवा जिह्वानोक के सम्पर्क मे आता हो।

९. ध्वनियों का वर्गीकरण सामान्यतः पहले दो भागों मे किया जाता है। जिन ध्वनियों के उच्चारण मे फेफड़ो से आनेवाली वायु मुख-विवर§ से अबाध रूप से प्रवाहित हो जाती है और वायु-मार्ग में किसी प्रकार की बाधा नही होती, न किसी प्रकार का विक्षोभ उत्पन्न किया जाता है, उन्हें **स्वर** कहते है। जिन ध्वनियों के उच्चारण में उक्त लक्षण नहीं होता, उन्हें **व्यंजन** कहा जाता है।

१०. स्वर नासा-द्वार की स्थिति के अनुसार निरनुनासिक और सानुनासिक होते है तथा स्वरतंत्रियों की स्थिति के अनुसार सघोष और अघोष होते है। सामान्यतः निरनुनासिक और सघोष स्वरो का ही प्राधान्य माना जाता है, इसलिए यदि किन्ही

§ स्वरो के लिए वायु का मुख-विवर से प्रवाहित होना आवश्यक है। यदि नासा-द्वार बन्द है तो सारी वायु मुख-विवर से गुजरेगी और **निरनुनासिक स्वर** उत्पन्न होंगे। यदि नासा-द्वार खुला है तो कुछ वायु नासिका-विवर से भी गुजरेगी और **सानुनासिक स्वर** उत्पन्न होंगे। यदि मुख-विवर में अवरोध हो जाय किन्तु नासिका-विवर से वायु का निर्बाध प्रवाह हो तो इस प्रकार उत्पन्न ध्वनियाँ व्यंजन कही जायँगी, स्वर नहीं।

स्वरों में ये दोनों गुण हो तो इन गुणों का उल्लेख उन स्वरो के वर्णन मे प्राय: नहीं किया जाता। किन्तु यदि स्वर सानुनासिक और/अथवा अघोष हों तो इन बातों का उल्लेख उन स्वरों के वर्णन में कर दिया जाता है।

१०·१ ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्वरो के उच्चारण में वायु को मुख-विवर से निर्बाध रूप से निकलना चाहिए। मुख-विवर के अन्तर्गत जिह्वा ऊपर उठ तो सकती है, किन्तु केवल एक सीमा तक। यदि इस सीमा से जिह्वा तनिक भी ऊपर उठ जाती है तो मार्ग इतना संकीर्ण हो जाता है कि प्रवाहित हो रही वायु मे सघर्ष उत्पन्न हो जाता है। अतएव स्वरो के उच्चारण में जिह्वा अधिक-से-अधिक उक्त सीमा तक ऊपर उठाई जा सकती है। मनुष्य के मुख-विवर में इस प्रकार की कोई भौतिक रेखा नही खिची हुई है, जिसे **स्वर-सीमा** कहा जा सके, इस अर्थ मे यह स्वर-सीमा काल्पनिक है। किन्तु कोई भी मनुष्य ऐसा नही कर सकता कि वह जिह्वा को जितना ऊपर चाहे, उठा ले जाय और स्वर का उच्चारण कर ले। एक ऐसी सीमा आती है जिसके ऊपर जिह्वा को ले जाकर स्वर का उच्चारण करना संभव नही है और इस अर्थ मे यह स्वर-सीमा यथार्थ तथा वास्तविक है। चित्र में स्वर-सीमा देखें

१०·२ स्वरों के वर्गीकरण के मुख्य आधार निम्नलिखित है :—

(अ) जिह्वा के उन्नयन की मात्रा।

(ब) जिह्वा का उन्नत होने वाला भाग।

(स) ओष्ठों की स्थिति।

स्वरो के उच्चारण में जिह्वा जिस निम्नतम स्थिति में रह सकती है और जिस उच्चतम स्थिति (स्वर-सीमा) तक उठ सकती है, उसके बीच यदि जिह्वा विन्दु-विन्दु करके ऊपर उठाई जाय तो अगणित स्थितियाँ हो सकती हैं और वास्तव में ये सभी स्थितियाँ भौतिक दृष्टि से यथार्थ भी हैं ; किन्तु मनुष्य के लिए इन सारी स्थितियों मे भेद कर पाना संभव नही है। पास-पास के अनेक विन्दुओं पर बोले जाने वाले अनेक स्वर हमे पूर्णत: एक-जैसे प्रतीत होते है और उन्हें हम एक ही स्वर समझ कर बोलते तथा सुनते है। इसलिए जिह्वा के निम्नतम और स्वरार्थ उच्चतम विन्दुओं के बीच के स्थान को थोड़े—से भागों मे विभक्त कर लिया जाता है। ये भाग बराबर-बराबर होते हैं। एक भाग के किसी भी विन्दु से उच्चरित होनेवाले स्वर को एक ही स्वर माना जाता है और ऐसे सभी उच्चारणो के लिए एक ही लिपि-चिह्न का प्रयोग
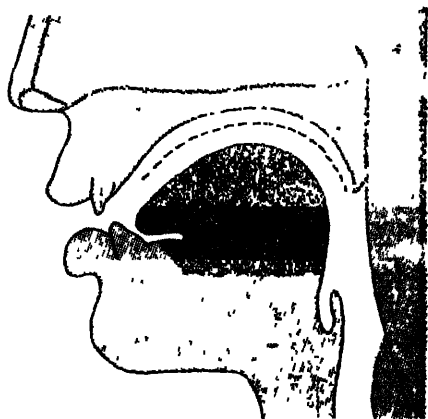
किया जाता है । स्वर-सीमा की भाँति ये भाग भी काल्पनिक हैं; इसलिए दो समीपस्थ भागों की सीमा-रेखा के आस-पास पाये जानेवाले स्वरों के लिए भी दो लिपि-चिह्नों के बजाय एक ही लिपि-चिह्न का प्रयोग किया जाता है । वास्तव मे इन भागों की सीमाएँ बहुत स्थिर नही हैं । किसी भाषा मे पाये जाने वाले स्वरो की सख्या और उनकी प्रकृति के अनुसार लिपि-चिह्नो के प्रयोग का तथा कई उच्चारणो को एक या अनेक स्वरों के रूप मे सुनने का निश्चय होता है ।

इस दशा मे कुछ निश्चित विन्दुओं के स्वरो को निश्चित मूल्य प्रदान करके तुलना करते हुए किसी भी भाषा के स्वरो के वर्णन मे सुगमता होती है ।

उन्नयन की मात्रा की भाँति ही जिह्वा के उठनेवाले भागों में भी पर्याप्त विविधता होती है और भौतिक दृष्टि मे यह विविधता भी यथार्थ होती है । लेकिन इन सारी विविधताओ को न वक्ता समझ पाता है, न श्रोता । इसलिए इस दिशा में भी कुछ निश्चित अंशो को निश्चित मूल्य देकर उनसे तुलना करते हुए किसी भाषा के स्वरो का वर्णन सुगमतापूर्वक किया जा मकता है ।

यही बात ओठों की स्थिति पर भी लागू होती है । ओठों की अधिकतम गोलाई से लेकर उनकी उदासीनता तक और उदासीनता से अधिकतम विस्तार तक विन्दु-विन्दु चलने पर अनेक स्थितियाँ प्राप्त होती है । ये स्थितियाँ भी भौतिक दृष्टि से यथार्थ है ; किन्तु वक्ता और श्रोता इनके सारे भेदो को नही समझ पाते । इस क्षेत्र में भी कुछ निश्चित स्थितियो को निश्चित मूल्य दे देना अच्छा होता है ।

१०·३ इन सारी बातो का ध्यान रखते हुए कुछ स्वर निश्चित किये गये है जिन्हें **मानस्वर** कहा जाता है । ये मानस्वर किसी भाषा से लिये नहीं गये है बल्कि निर्धारित किये गये है और सारी भाषाओ के वर्णन में ये पैमानो का काम देते है । इन्हें मानदण्ड बनाकर हम किसी भी स्वर की उच्चारण-स्थिति का वर्णन कर सकते हैं । निम्न चित्र मे ये विन्दु और विभाग देखे जा सकते है ।
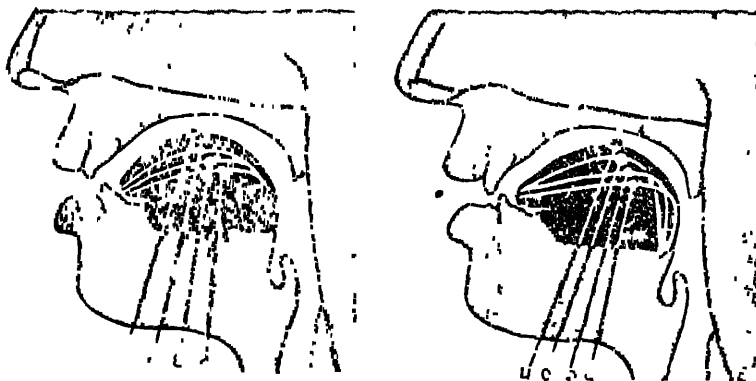
इनका स्वरूप कुछ इस प्रकार बनता है (बीच की रेखाएँ सरलता के लिए सीधी खींची गई हैं) :—
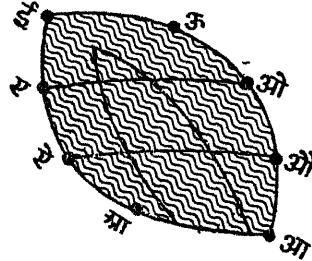
सुविधा के लिए इसे निम्न प्रकार का रूप दिया जाता है, जिसे हम **स्वर-चतुष्कोण** कह सकते है ।
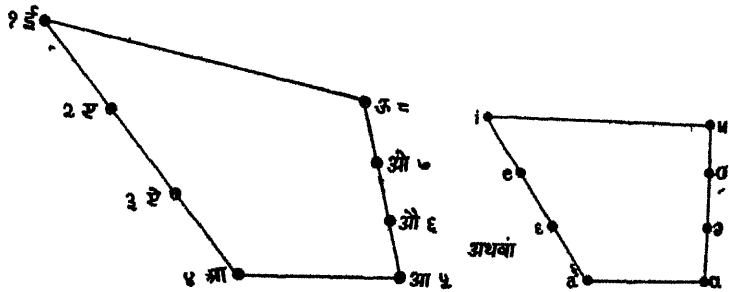
१०·४ इस चतुष्कोण में जिह्वा के उन्नयन की चार मात्राएँ स्वीकार की गई है अर्थात् उसकी ऊँचाई की चार स्थितियाँ दिखाई गई है । स्वर-सीमा को छूने वाली उच्चतम स्थिति **संवार** की स्थिति है और निम्नतम स्थिति **विवार** की स्थिति है । संवार के नीचे वाली स्थिति **अर्धसंवार** है और विवार के ऊपर वाली स्थिति **अर्धविवार** है । इस प्रकार ई–ऊ **संवृत**, ए–ओ **अर्धसंवृत**, ऐ–औ **अर्धविवृत** तथा ॲा-आ **विवृत** स्वर है ।

१०·५ चूँकि ई–ए–ऐ–ॲा के उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग सक्रिय होता है, इसलिए इन्हे **अग्र** स्वर कहा जाता है । इसी प्रकार ऊ–ओ–औ–आ के उच्चारण में

---

§ अन्तरराष्ट्रीय ध्वनि-परिषद् (IPA) आवश्यकतानुसार नियमों तथा लिपि-चिह्नो में संशोधन करती रहती है । परिषद् को एक सुझाव दिया गया है कि a के स्थान पर æ चिह्न का प्रयोग किया जाय (ग्लीसन ने इसे स्वीकार कर लिया है) और जिस ध्वनि के लिए æ चिह्न का प्रयोग किया जाता है, उसके लिए एक अन्य चिह्न का प्रयोग किया जाय । परिषद् ने इस प्रस्ताव का उल्लेख-मात्र कर दिया है ; इसे अपनी स्वीकृति नही प्रदान की है ।

जिह्वा का पश्च भाग सक्रिय होता है और इस कारण इन स्वरो को **पश्च स्वर** कहा जाता है।

१०·६ ओठो की स्थिति स्वरों के उच्चारण में एक-जैसी नही होती। उदाहरणार्थ, ई के उच्चारण मे ओठ फैले रहते है, ऊ के उच्चारण में वे गोल हो जाते हैं और आ के उच्चारण में वे उदासीन रहते है। मोटे तौर पर ये तीन स्थितियाँ स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकती हैं। किन्तु इन तीनों स्थितियों को स्वीकार करना भी आवश्यक नहीं समझा गया है और केवल दो स्थितियों का भेद पर्याप्त माना गया है। जिस स्थिति में ओठ गोल होकर आगे की ओर बढते है, उसे **गोलन** कहते हैं। ओठों के फैलने की और उनकी उदासीनता की स्थितियाँ एक ही स्थिति की मान ली गई है जिसे **अगोलन** कहा जाता है। गोलन की स्थिति में उत्पन्न स्वर **गोलित** और अगोलन की स्थिति में उत्पन्न स्वर **अगोलित** कहे जाते है।

१०·७ यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इन लिपि-चिह्नो का प्रयोग यहाँ हिन्दी स्वरों के लिए नही हुआ है। जिन ध्वनियों के लिए इन चिह्नों का प्रयोग हुआ है, उनका उच्चारण किसी प्रशिक्षित अध्यापक से सीखना चाहिए।

१०·८ इन स्वरों का नामोल्लेख (संक्षिप्त वर्णन) इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) संवृत, अग्र, अगोलित।
(२) अर्धसवृत, अग्र, अगोलित।
(३) अर्धविवृत, अग्र, अगोलित।
(४) विवृत, अग्र, अगोलित।
(५) विवृत, पश्च, अगोलित।
(६) अर्धविवृत, पश्च, गोलित।
(७) अर्धसंवृत, पश्च, गोलित।
(८) संवृत, पश्च, गोलित।

१०·९ उक्त मानस्वरों के अतिरिक्त ओठों की स्थिति के भेद के कारण सात अन्य **गौण मानस्वर** निर्धारित किये गये हैं, जिनमें जिह्वा की स्थिति वही रहती है।
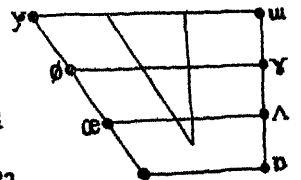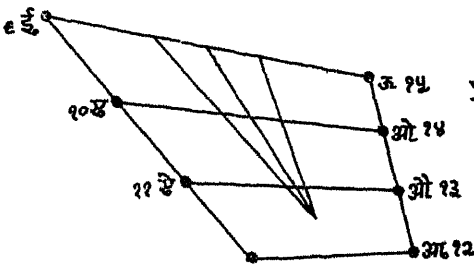
१०·१० इन स्वरो का शुद्ध उच्चारण किसी प्रशिक्षित अध्यापक से सीखना चाहिए ; किन्तु इनका नामोल्लेख (संक्षिप्त वर्णन) इस प्रकार किया जा सकता है :—

(९) संवृत, अग्र, गोलित ।
(१०) अर्धसवृत, अग्र, गोलित ।
(११) अर्धविवृत, अग्र, गोलित ।§
(१२) विवृत, पश्च, गोलित ।
(१३) अर्धविवृत, पश्च, अगोलित ।
(१४) अर्धसंवृत, पश्च, अगोलित ।
(१५) सवृत, पश्च, अगोलित ।

१०·११ उक्त स्वर जिह्वा की अग्र और पश्च स्थितियों से उच्चरित होते है। जिह्वा के केन्द्रीय भाग से उच्चरित होने वाले स्वरों में से भी कुछ को गौण मानस्वर निर्धारित किया जा सकता है। ये स्वर **केन्द्रीय स्वर** कहे जाते हैं।†

उक्त स्वर-चतुष्कोण के बीच में जो त्रिकोण बना हुआ है, यह जिह्वा का केन्द्रीय भाग है। इससे उच्चरित होने वाले तीन स्वर निम्नलिखित है—

ई [+] सवृत, केन्द्रीय, अगोलित।
ऊ [ʉ] संवृत, केन्द्रीय गोलित।
अ [ə] उदासीन स्वर।

१०·१२ उपर्युक्त सभी स्वरों के उच्चारण में जिह्वा आदि से अन्त तक एक स्थिति में रहती है। इस प्रकार उच्चरित स्वरों को **मूलस्वर** कहा जाता है। कुछ स्वरों के उच्चारण में जिह्वा स्थिर नही रहती ; एक स्वर की स्थिति में जाते ही दूसरे स्वर की स्थिति की ओर बढ जाती है। यह क्रिया एक ही झटके मे होती है और उच्चरित ध्वनि एक ही वर्ण‡ का निर्माण करती है। इस प्रकार उच्चरित स्वर **द्विस्वर** कहे जाते हैं। द्विस्वरों को दो मूल स्वरों का अनुक्रम नही समझना चाहिए क्योंकि द्विस्वरों का एक अंश दूसरे की अपेक्षा कम मुखर और गौण होता है जिसे इसी कारण **व्यंजनात्मक स्वर** कहा जाता है।

१०·१३ हिन्दी के "दैनिक-भैया' तथा 'कौन-कौवा' शब्दों के पहले स्वर

---

§ विवृत, अग्र, गोलित के लिए कोई लिपि-चिह्न नही दिया गया है क्योंकि संसार की किसी भाषा मे अर्धविवृत-अग्र-गोलित तथा विवृत-अग्र-गोलित में कार्य-भेद नही पाया गया है। ये एक ही ध्वनि के रूप में प्रयुक्त होती है।

† ये मध्य स्वर नहीं है। मध्य स्वर कौन होते हैं, इस बात का उल्लेख इस पुस्तक मे नही किया जायगा।

‡ वर्ण का विवेचन आगे होगा।

द्विस्वर है। कुछ ही हिन्दीभाषी दोनों युग्मों के प्रथम शब्दो के पहले स्वरों का उच्चारण मूल स्वरों के रूप मे करते है। अधिकांश लोगो के उच्चारण में ये युग्म चार द्विस्वर प्रस्तुत करते है। पहले युग्म का प्रथम स्वर 'ऐ' के रूप में लिखा जाता है ; किन्तु इन शब्दो मे इसका उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। 'दैनिक' शब्द की 'ऐ' ध्वनि 'अ' से आरभ होकर 'ए़' की ओर जाती है और 'भैया' मे वह 'अ' से 'इ' की ओर जाती है। दूसरे युग्म में भी कुछ ऐसा ही स्थिति है। जिसे हम नागरी में 'औ' लिखते है, वह वस्तुत: दो ध्वनियो का प्रतिनिधि है। 'कौन' में 'अ' से 'ओ़' की ओर जानेवाला द्विस्वर है तथा 'कौवा' मे 'अ' से 'उ' की ओर जानेवाला। इन चारों द्विस्वरो को हम क्रमश: अए़, अइ, अओ़ तथा अउ लिख सकते है। स्वर-चतुष्कोण में इन्हे इस प्रकार दिखाया जा सकता है :—
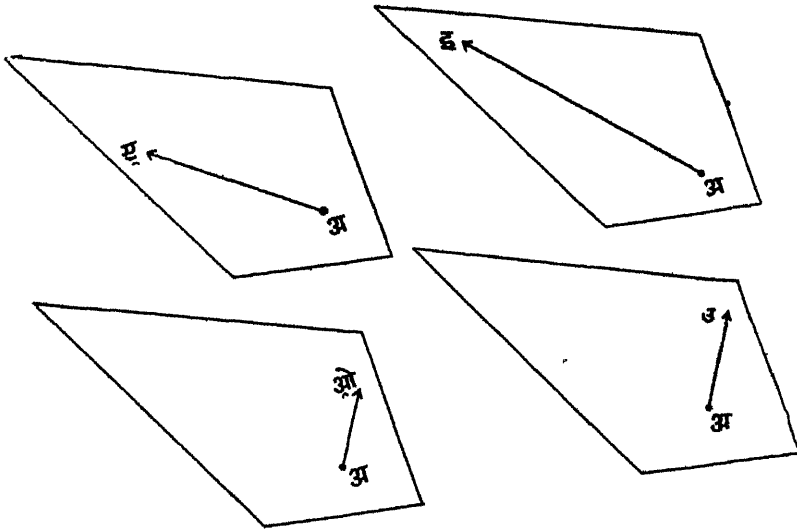
११. व्यंजन-ध्वनियो का वर्गीकरण स्वरों की भाँति नहीं होता। इनके वर्गीकरण में उच्चारण के स्थान और प्रयत्न को आधार बनाया जाता है। **प्रवाहित हो रही वायु जिस स्थान पर प्रभावित की जाती है, उसे स्थान कहते है।** स्थान के अनुसार व्यंजनों के निम्नलिखित भेद किये जा सकते है :—

(क) **द्वयोष्ठ्य**—जिन व्यजनों का उच्चारण दोनों ओठों की सहायता से हो।

(ख) **दन्तोष्ठ्य**—जिनके उच्चारण में नीचे का ओठ ऊपर के दाँतों से सहयोग करे।

(ग) **दन्त्य**—जिनका उच्चारण जिह्वानोक और ऊपर के दाँतों से हो।

(घ) **बस्र्व्य**—जो बस्वं तथा जिह्वानोक (या जिह्वाफलक) के सम्पर्क§ ः उच्चरित हों।

(ङ) **मूर्धन्य**—जिनके उच्चारण में जिह्वा की नोक उत्कुंचित होकर मूर्धा से सम्पर्क करे।

(च) **तालुबस्र्व्य**—जिनके उच्चारण मे जिह्वाग्र तालु की ओर उठे तथा जिह्वाफलक बस्वं के सम्पर्क में आए।

(छ) **बस्वंतालव्य**—जिनके उच्चारण में जिह्वाफलक बस्वं के सम्पर्क में आए और जिह्वाग्र का पूर्व भाग तालु की ओर उठे। बस्वंतालव्य ध्वनियों में बस्र्व्यता प्रमुख होती है और तालुबस्र्व्य में तालव्यता।

(ज) **तालव्य**—जिनके उच्चारण में जिह्वाग्र मूर्धा के सम्पर्क में आए।

(झ) **उत्कंठ्य**—जिनका उच्चारण उत्कंठ-जिह्वापश्च से हो।

(ञ) **अलिजिह्वीय**—जिनके उच्चारण में अलिजिह्व का सम्पर्क जिह्वापश्च के पिछले भाग से हो।

(ट) **ग्रसनीय**—जिनका उच्चारण ग्रसनी में हो।

(ठ) **काकल्य**—जो काकल मे उच्चारित हों।

११·१ **उच्चारण करने वाले अंग प्रवाहित हो रही वायु को जिस प्रकार प्रभावित करते हैं, उसे प्रयत्न कहा जाता है।** प्रयत्न के अनुसार व्यंजनों को निम्नलिखित वर्गों मे रखा जा सकता है :—

(क) **स्पर्श**—वायु-मार्ग का पल भर के लिए पूर्णतः अवरोध हो जाता है और फिर सहसा उसका उन्मोच होता है।†

(ख) **नासिक्य**—वायु-मार्ग मुख-विवर में पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है ; किन्तु उत्कंठ नीचे झुका रहता है। फलस्वरूप नासाद्वार खुला रहता है और वायु नासिका-मार्ग से निकलती रहती है।

(ग) **पार्श्विक संघर्षी**—वायु-मार्ग के केन्द्रीय भाग मे कोई अवरोध आ जाता है किन्तु उस अवरोध के एक या दोनो ओर संकीर्ण-सा मार्ग बना रहता है जिससे वायु संघर्ष करती हुई निकलती है।

(घ) **पार्श्विक**—वायु-मार्ग के बीच मे एक अवरोध प्रस्तुत हो जाता है

---

§ यहाँ 'सम्पर्क' का तात्पर्य है छूना या निकट आना। इसी प्रकार आगे भी इसका अर्थ लगाना चाहिए।

† यदि यह उन्मोच सहसा न होकर शनैः शनैः हो तो उन्मोच के समय वायु-मार्ग मे संघर्ष होता है। स्पर्श और संघर्षमय उन्मोच वाली इन ध्वनियों को स्पर्श के बजाय **स्पघर्ष** कहा जाता है।

किन्तु उस अवरोध के एक या दोनो ओर से वायु निर्बाध निकलती रहती है। संघर्ष नहीं होता।

(ङ) **लुंठित**—कोई वागग अनेक क्षिप्र आघात करता है।

(च) **उत्क्षिप्त**—कोई वागंग एक क्षिप्र और दूरगामी आघात करता है।

(छ) **संघर्षी**—वायु-मार्ग इतना संकीर्ण कर दिया जाता है कि निकलने वाली वायु मे संघर्ष होने लगता है।

(ज) **संघर्षहीन प्रवाही**—वायु-मार्ग की स्थिति संघर्षी व्यंजनो वाली ही होती है लेकिन वायु का निर्गमन क्षीण शक्ति से होता है, फलतः संघर्ष नही होता।

(झ) **अर्धस्वर**—एक ऐसी सघोष श्रुति जिसमें वागग एक क्षीण स्वर के उच्चारण की स्थिति से तुरन्त ही समान या अधिक शक्ति वाले स्वर की स्थिति में पहुँचते है।

११ २ उक्त व्यजनों मे स्वरतत्रियो की स्थिति एक तीसरे और व्यापक वर्गीकरण का आधार प्रदान करती है। जिन व्यजनों के उच्चारण के समय स्वर-तंत्रियों मे कम्पन होता है, उन्हें **सघोष** तथा जिनके उच्चारण के समय स्वरंतत्रियों में कम्पन नही होता, उन्हे **अघोष** कहा जाता है।

११·३ सामान्यतः स्पर्शो तथा स्पघर्षो का§ कभी-कभी एक चौथा वर्गीकरण भी किया जाता है और वह है **अल्पप्राण** तथा **महाप्राण** का। उन्मोच के साथ यदि अपेक्षाकृत अधिक वायु बाहर फेंकी जाती है तो महाप्राण ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं। यदि यह वायु कम हो और कम शक्ति से फेकी जाय तो अल्पप्राण ध्वनियाँ बनती है।

११·४ व्यजनों के वर्गीकरण के आधार इतने ही नही है; किन्तु प्रमुख रूप से इतने आधारो को समझ लेना यहाँ पर्याप्त होगा।

आगे की तालिकाओं के व्यंजनों में से प्रत्येक युग्म का पहला व्यंजन अघोष और दूसरा सघोष है। जिस खाने में केवल एक व्यंजन है, वह सघोष के लिए है। केवल काकल्य स्पर्श एक अपवाद है क्योकि उसकी उच्चारण-प्रक्रिया सघोष-अघोष दोनों से भिन्न है (पीछे स्वरतंत्रियो की विभिन्न स्थितियों का वर्णन देखिए)।

११·५ प्रत्येक व्यंजन के उच्चारण की विधि का वर्णन करना हो तो घोष, प्राण, स्थान और प्रयत्न का वर्णन करना चाहिए। उदाहरणार्थ—

ख्—इस व्यंजन के उच्चारण मे जिह्वापश्च उत्कंठ का स्पर्श करता है जिससे वायु निमिष भर के लिए अवरुद्ध हो जाती है। फिर शीघ्रता के साथ उन्मोच होता है और फुफ्फुस शक्ति लगाकर अपेक्षाकृत अधिक वायु फेकता है। इस प्रक्रिया के बीच स्वरतंत्रियों मे कम्पन नही होता।

---

§ कभी-कभी कुछ अन्य व्यंजन भी इस वर्गीकरण में रखे जाते है।

अन्तरराष्ट्रीय स्वनलिपि
THE INTERNATIONAL PHONETIC ALPHABET.
(Revised to 1951.)

CONSONANTS

	BI-LABIAL	LABIO DENTAL	DENTAL AND ALVEOLAR	RETROFLEX	PALATO-ALVEOLAR	ALVEOLO-PALATAL	PALATAL	VELAR	UVULAR	PHARYNGAL	GLOTTAL
PLOSIVE	p b		t d	ʈ ɖ			c ɟ	k g	q ɢ		ʔ
NASAL	m	ɱ	n	ɳ			ɲ	ŋ	ɴ		
LATERAL FRICATIVE			ɬ ɮ								
LATERAL NON-FRICATIVE			l	ɭ			ʎ				
ROLLED			r						ʀ		
FLAPPED			ɾ	ɽ					ʀ		
FRICATIVE	ɸ β	f v	θ ð s z ɹ	ʂ ʐ	ʃ ʒ	ɕ ʑ	ç ʝ	x ɣ	χ ʁ	ħ ʕ	h ɦ
FRICTIONLESS CONTINUANTS AND SEMI-VOWELS	w ɥ	ʋ	ɹ				j (ɥ)	(w)	ʁ		

VOWELS

	BI-LABIAL	FRONT	CENTRAL	BACK
CLOSE	(y ʉ u)	i y	ɨ ʉ	ɯ u
HALF-CLOSE	(ø o)	e ø	ə	ɤ o
HALF-OPEN	(œ ɔ)	ɛ œ æ	ɐ	ʌ ɔ
OPEN	(ɒ)		a	ɑ ɒ

(Secondary articulations are shown by symbols in brackets.)

हिन्दी स्वनलिपि

		द्वयोष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य और वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालुवर्त्स्य	वर्त्सतालव्य	तालव्य	उत्कंठ्य	अलिजिह्वीय	ग्रसनीय	काकल्य
व्यंजन	स्पर्श	प् ब्		त् द्	ट् ड्			क्‍ ग्‍	क् ग्	क़् ग़्		?
	नासिका	म्	म़्	न्	ण्			ञ्	ङ्	ङ्		
	पार्श्विक संघर्षी			ल़् ल्								
	पार्श्विक			ल्	ळ्			ल्‍				
	लुण्ठित			र्						ऱ्		
	उत्क्षिप्त			ऱ्	ड़्					ऱ्		
	संघर्षी	प़् ब़्	फ़् व्	थ़् द़् / स् ज़् / ऱ्	ष् ज़्	श़् झ़्	श् झ़्	फ़् य्	ख् घ्	ख़् ग़्	ह़ ९	ह् ह्
	संघर्षहीन प्रवाही तथा अर्धस्वर	ह़् ह़्	व्	ऱ्				य् (ह्‍)	(ह्)	घ्		
स्वर	संवृत	(ई ऊ ऊ)						अग्र: ई ई़ / केन्द्रीय: ई़ उ	पश्च: ऊ ऊ			
	अर्धसंवृत	(ए ओ)						ए ए़ / अ	ओ ओ			
	अर्धविवृत	(ऐ औ)						ऐ ऐ़ / ऐ़	औ औ			
	विवृत	(आ़)						आ़	आ आ़			

ल्—इस व्यजन के उच्चारण मे जिह्वानोक बर्स्व का स्पर्श करती है और वायु-मार्ग के बीचोबीच बाधा बनकर अड़ जाती है। किन्तु उसके एक या दोनों ओर से वायु का निर्गमन होता रहता है। इस प्रक्रिया के समय स्वरतंत्रियो मे कम्पन होता रहता है।

११ ६. किन्तु सामान्यत. उक्त बातो का द्योतन करने वाले पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग-मात्र ध्वनियो के नामोल्लेख के रूप में पर्याप्त होता है। उदाहरणार्थ :—

ख्—अघोष महाप्राण उत्कठ्य स्पर्श।

ल्—सघोष बर्स्व्य पार्श्विक।

१२. अब तक हमने ध्वनियो पर विचार किया है। कुछ तत्व ऐसे होते है जो ध्वनियो के साथ रहते है, ध्वनियो से अलग नही किये जा सकते लेकिन वे अपने आप मे 'ध्वनियाँ' नही होते। इन्हे **ध्वनिगुण** कहा जाता है। ध्वनिगुण तीन होते हैं—मात्रा, बल और सुर।

१२ १ किसी ध्वनि के उच्चारण मे जितना समय लगता है, उसे हम उस ध्वनि की कालमात्रा या **मात्रा** कहते है। यदि हम कोई ध्वनि १/८ सेकण्ड मे बोल सकते हैं तो उस ध्वनि की मात्रा १/८ सेकण्ड है। यदि कोई ध्वनि अपने उच्चारण के लिए १/४ सेकण्ड लेती है तो उस ध्वनि की मात्रा १/४ सेकण्ड है। समय के छोटे-से-छोटे भाग का अन्तर ध्यान में रक्खे तो मात्रा की अगणित कोटियाँ निर्धारित करनी पड़ेगी। वास्तव में हमे किसी भाषा मे कुछ ही मात्राओं का भेद स्वीकार करना होता है क्योकि किसी ध्वनि के दो उच्चारणों में होने वाला अल्प भेद भाषा में उपेक्षणीय होता है। इसलिए एक निश्चित सीमा तक की सभी कालमात्राओं को हम एक ही मात्रा मानते है। उस सीमा के बाद फिर एक निश्चित सीमा तक की सारी कालमात्राएँ एक दूसरी मात्रा के रूप में स्वीकार की जाती है। इस प्रकार संस्कृत के स्वनज्ञों ने संस्कृत के स्वरों के लिए तीन मात्राओं का वर्गीकरण पर्याप्त समझा है और उन्हे ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत की सज्ञा दी है। सामान्यत. ऐसा समझा जाता है कि दीर्घ स्वर के उच्चारण मे ह्रस्व स्वर के उच्चारण की अपेक्षा दूना समय लगता है और प्लुत स्वर के उच्चारण में तिगुनी कालमात्रा लगती है। वास्तव में यह पूर्णतः सत्य नही है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि ये कालमात्रा के विभाग है जो क्रमशः अधिक होते गये हैं।

हिन्दी में भी स्वरो की दो मात्राएँ मिलती है जिन्हे हम ह्रस्व और दीर्घ कह सकते है। प्लुत के भी कुछ उदाहरण प्राप्त होते है (उदाहरणार्थ, किसी का नाम लेकर पुकारते समय) लेकिन भाषा मे उनका उल्लेखनीय स्थान नही है। मात्रा-भेद से शब्द-भेद के प्रचुर उदाहरण हिन्दी मे हैं। जैसे:—

कला — काला

रम — राम

किला — कीला
दिन — दीन
कुल — कूल
बुरा — बूरा

१२·२ वास्तव में मात्रा स्वरो में ही नही, व्यंजनो में भी होती है। हिन्दी मे तो व्यजनों में कालमात्रा का भेद अधिक उल्लेखनीय है क्योंकि मात्रा-भेद वाले व्यंजनो में केवल मात्रा का ही भेद होता है जबकि स्वरों में मात्रा-भेद के साथ-साथ लक्षण (उच्चारण-स्थान आदि)-भेद भी विद्यमान रहता है। ह्रस्व मात्रा वाले व्यंजन के उच्चारण में जितना समय लगता है, दीर्घ मात्रा वाले व्यंजन के उच्चारण में उसके दूने के लगभग समय की आवश्यकता होती है। लिखने में दीर्घ व्यंजनों के लिए लिपिचिह्न-द्वित्व के प्रयोग की परम्परा है। कुछ उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

पका — पक्का
सजा — सज्जा
धनी — धन्नी
बली — बल्ली
बटी — बट्टी
लसी — लस्सी

१२·३ किसी अनुक्रम मे किसी ध्वनि पर व्यय की जाने वाली शक्ति **बल** कहलाती है। बल की भी अनेक कोटियाँ हो सकती है, किन्तु कोई भाषा बल की कुछ ही कोटियों का महत्त्व स्वीकार करती है। एक निश्चित सीमा तक बल की सारी स्थितियों को एक कोटि के रूप मे स्वीकार किया जाता है और उससे आगे एक दूसरी सीमा तक की सारी संभावनाएँ दूसरी कोटि के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दी में बल की एक ही कोटि स्वीकार करना पर्याप्त है। शब्द की जिस ध्वनि में यह बल है, उसके अतिरिक्त सारी ध्वनियाँ बलहीन हैं ऐसा नहीं मानना चाहिए। बिना बल की कोई ध्वनि नहीं होती। हम **बली** ध्वनि उसे कहते हैं जिसमें अपेक्षाकृत अधिक बल होता है और अपेक्षाकृत कम बलवाली ध्वनि को **निर्बल** कहा जा सकता है। बली ध्वनि के संकेत के लिए ˈलिपिचिह्न का प्रयोग वर्ण के पहले किया जाता है और निर्बल ध्वनियों के संकेत के लिए लिपिचिह्नो की आवश्यकता नही है। हिन्दी के निम्नलिखित शब्दों मे बल का स्वरूप दिखाया जा रहा है :—

ˈकमल
कि ˈसान
आ ˈराम
पुस्त ˈकालय

१२·४ हिन्दी में शब्द-स्तर पर मिलने वाले इस प्रकार के बल की उपयोगिता केवल इतनी है कि उपयुक्त बल की सहायता से शब्दों का स्वाभाविक उच्चारण करने में सरलता होती है। किन्तु कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनमें बल-भेद से शब्द-भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ :—

अँगरेजी :—

ˈइम्पोर्ट (आयात)	इम् ˈपोर्ट (आयात करना)
ˈकॉण्डक्ट (आचरण)	कॉन् ˈडक्ट (संचालन करना)

रूसी :—

ˈजमोक (दुर्ग)	ज़ ˈमोक (ताला)
ˈदोमा (घर में)	दो ˈमा (घर ब० व०)

१२·५ वाक्य-स्तर पर हिन्दी में भी बल का कार्य अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। वाक्य में जिस शब्द को यह बल प्राप्त होता है, अर्थ मे भी उसी शब्द पर बल रहता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शब्द-स्तर पर किसी शब्द के जिस वर्ण पर बल रहता है, वाक्य-स्तर पर मिलने वाला यह अतिरिक्त बल भी उसी वर्ण पर दिया जाता है। चूँकि वाक्य-स्तर पर मिलने वाला यह बल अतिरिक्त होता है इसलिए शब्द-स्तर के बल से इसमें भेद करना आवश्यक है। कार्यकारिता की दृष्टि से वाक्य-स्तर का बल ही उल्लेखनीय है, इसलिए इसके लिए उपर्युक्त लिपिचिह्न का प्रयोग पर्याप्त होगा। निम्नलिखित वाक्यों से बल का यह कार्य स्पष्ट हो जायगा—

(१) ˈमैंने पुस्तक देखी है। (मैंने देखी है, उसने नहीं।)
(२) मैंने ˈपुस्तक देखी है। (पुस्तक देखी है, पत्रिका नही।)
(३) मैंने पुस्तक ˈदेखी है। (देखी है, पढ़ी नही है।)

१२·६ यह आवश्यक नही है कि यह बल वाक्य के किसी-न-किसी शब्द में विद्यमान ही हो। यदि उक्त वाक्य का उच्चारण अतिरिक्त बल के बिना किया जाय तो एक भिन्न अर्थ प्राप्त होगा जिसमें किसी शब्द विशेष के अर्थ पर जोर नहीं होगा बल्कि सीधा-सादा वर्णनात्मक वाक्य बन जायगा।

१२·७ स्वरतंत्रियों मे होनेवाली तनाव की मात्रा के अनुसार घोष की ऊँचाई या नीचाई की मात्रा होती है। यही आरोह-अवरोह सुर है। इसमें भी अगणित कोटियाँ हो सकती है लेकिन मात्रा और बल की भाँति इसकी भी कुछ ही कोटियाँ निर्धारित कर लेना किसी भाषा के लिए पर्याप्त होता है। ऐसी प्रत्येक कोटि के अन्तर्गत एक दूसरी से मिलती-जुलती सुर की अनेक स्थितियाँ समाहित रहती हैं। कई भाषाओं में सुर के तीन भेद करना पर्याप्त होता है। उच्च सुर में स्वरतंत्रियों के तनाव की मात्रा बढ़ती है और सुर का आरोह होता है, नीच सुर में स्वरतंत्रियों

के तनाव की मात्रा घटती है और सुर का अवरोह होता है। **सम** सुर में स्वरतंत्रियों का तनाव अपरिवर्तित रहता है और सुर यथास्थान रहता है।

सुर के आरोह-अवरोह की मात्रा के अनुसार उसके विभागों के **सुर-स्तर** निर्धारित किये जा सकते है और उन्हें १, २, ३ आदि अकों से द्योतित किया जा सकता है। सुर की निम्नतम स्थिति के लिए १, अपेक्षाकृत उच्च स्थिति के लिए २ और उच्चतर स्थिति के लिए ३ का प्रयोग सभव है। यह प्रक्रिया आवश्यकतानुसार घटाई या और आगे बढाई जा सकती है।

१२·८ शब्द-स्तर पर कार्य करने वाला सुर **तान** कहा जाता है। तानयुक्त भाषाओ मे सुर का भेद करने से शब्द का अर्थ बदल जाता है। इबो भाषा मे 'इसि' शब्द का उच्चारण अवरोही सुर से किया जाय तो उसका अर्थ 'सुगन्ध' होता है, सम सुर से किया जाय तो उसका अर्थ 'सिर' होता है और आरोहावरोही सुर से किया जाय तो उसका अर्थ 'छह' होता है। 'दीवार' का अर्थ देने वाला दिका भाषा का 'पन्य' शब्द उच्च सुर से उच्चरित होने पर एकवचन है; किन्तु नीच सुर से उच्चरित होने पर बहुवचन हो जाता है। सुपाली तथा धारणी कोर्कू में 'मोमोन' शब्द का अर्थ 'पाँच पाँच' होता है; किन्तु दूसरे वर्ण पर नीच सुर होने से उसका अर्थ हो जाता है—'मोमो नामक साँप मे'। झल्लारी कोर्कू में 'हाडे' शब्द का अर्थ होता है—'जानता है;' लेकिन दूसरे वर्ण पर नीच सुर आने से उसका अर्थ हो जाता है—'अस्थिपजर'।

१२ ९ वाक्य स्तर पर कार्य करने वाला सुर **अनुतान** कहलाता है। अनुतान किसी शब्द का अर्थ नही बदलती; पूरे वाक्य के अर्थ में किसी भाव का योग कर देती है। अनुतान के निर्देश के लिए वाक्य के सुर-स्तरो के अतिरिक्त उसके अन्त्यर का उल्लेख करना होता है। वाक्य के अन्त की सुर-धारा का स्वरूप **अन्त्यर** कहलाता है। सुर के साथ-साथ बल का परिवर्तन भी इसमें होता है। अन्त्यर तीन प्रकार के माने जाते है। **अवरोही** अन्त्यर में घोष अत्यंत शीघ्रता के साथ क्षीण होकर समाप्त हो जाता है। सुर और बल दोनों ही तीव्र गति से लुप्त हो जाते है। **आरोही** अन्त्यर में सुर झटके से क्षिप्रता के साथ थोड़ा-सा उठ जाता है। बल अपेक्षाकृत शीघ्रता के साथ समाप्त हो जाता है यद्यपि उसका ह्रास अधिक स्पष्ट नहीं होता। **सम** अन्त्यर में सुर यथावत् सुरक्षित रहता है; अन्तिम वर्ण मे कुछ दीर्घता आ जाती है और बल कुछ कम हो जाता है। इन तीनों के लिए क्रमशः ↓ ↑ → लिपिचिह्नों का प्रयोग किया जा सकता है।

१२·१० निम्नलिखित वाक्य मे अनुतानो का भेद देखिए :—

(क) [२] राम भोपाल गया[१] ↓ (साधारण कथन)

(ख) [२]राम भोपाल [3] गया[3] ↑ (प्रश्न)

(ग) [२] राम भोपाल [४]गया[४] ↑ (विस्मय)

दो सुर-स्तरों के बीच में पूर्ववर्ती सुर ही विद्यमान रहता है। यदि उसमे भेद होता भी है तो बहुत थोड़ा और उपेक्षणीय। फलतः जब कोई अंक लिखा जाता है तभी से सुर-स्तर में उल्लेखनीय अन्तर आया समझना चाहिए।

निम्नलिखित शब्द-वाक्य में विविध अनुताने मिलती है और विविध अर्थ वहन करती है। इनमे से कुछ अनुताने इस प्रकार है :—

(क) ^{२}हूँऽ^{१} ↓ (किसी लम्बे विवरण को धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे सुनते हुए व्यक्ति द्वारा बीच-बीच में प्रयुक्त।)

(ख) ^{3}हूँऽ^{१} ↓ (अधिक तत्परता तथा स्फूर्ति के साथ प्रयुक्त ; जैसे कि विवरण छोटा और कम उबाने वाला हो अथवा श्रोता उसमें पर्याप्त प्रफुल्लता के साथ रुचि ले रहा हो।)

(ग) ^{3}हूँऽ^{२} ↓ (क के यह पूछने पर कि क्या सचमुच ख के पिता उसे घर से अलग कर देने पर तुले हुए है, ख का अत्यन्त खेद के साथ पुष्टि करना।)

(घ) ^{3}हूँऽ^{3} ↑ (क्या सचमुच ऐसा है ? प्रश्न)

(ङ) ^{४}हूँऽ^{४} ↑ (क्या सचमुच ऐसा है ! विस्मय)

सम अन्त्यर के उदाहरण निम्नलिखित है :—

^{२}क्यों^{१} → ^{२}राम भोपाल ^{3}गया^{3} ↑

^{२}मैंने कहा^{२} → ^{२} राम भोपाल §गया^{१} ↓

१२·११ यदि बल और सुर को मिलाकर एक तत्व के रूप मे इनकी चर्चा करनी हो तो **आघात** शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

१३. 'वर्ण' शब्द का उल्लेख पीछे कुछ स्थानों पर हुआ है। फुफ्फुस द्वारा ध्वनि-उत्पादन के लिए किये जाने वाले वायु-निक्षेप की लय का सम्बन्ध वर्ण से है। मोटे तौर पर एक नाड़ी-स्पन्दन एक वर्ण होता है। एक ही झटके अथवा एक ही प्रयत्न से उच्चरित ध्वनि या ध्वन्यनुक्रम **वर्ण** है। ध्वनियों के आन्तरिक लक्षणों में उनकी अपनी **मुखरता** एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। यदि हम दूर से कोई अनुक्रम सुनें तो हमें अधिक मुखर ध्वनियाँ सुनाई पड़ेंगी ; कम मुखर ध्वनियाँ नहीं सुनाई देंगी या कम सुनाई देंगी। मुखरता में ध्वनियों की मात्रा, बल, सुर आदि का भी योग हो जाता है तो इस प्रकार उन ध्वनियों को प्राप्त हुई शक्तिमत्ता उनका **उत्कर्ष** कहलाती है। मात्रा, बल, सुर आदि के द्वारा हम अधिक मुखर ध्वनि का उत्कर्ष कम कर सकते हैं और कम मुखर ध्वनि का उत्कर्ष बढ़ा भी सकते है। जो ध्वनि किसी वर्ण की आधार-शिला होती है उसमें उत्कर्ष होना आवश्यक है। इस आधार-ध्वनि को **वार्णिक** अथवा **वर्ण-न्यष्टि** कहा

---

§यदि 'गया' पर बल देना हो तो यहाँ (वाक्य-स्तर का) 'बल' लगेगा और सुर-स्तर भी ३ हो जायगा।

जाता है। उत्कर्ष की वृद्धि होने पर र्, ल् आदि व्यंजन वार्णिक बन जाते है (इनके लिए संस्कृत में ऋ, लृ लिपिचिह्नों का प्रयोग होता था) और इ, उ आदि स्वर व्यंजन बन जाते है (य, व इसीलिए अन्तःस्थ और अर्द्धस्वर कहे जाते है), यद्यपि सामान्यत· स्वर व्यंजनो की अपेक्षा अधिक मुखर होते है। यदि किसी शब्द के वर्णो की कल्पना किसी आरोह-अवरोह-युक्त रेखा के रूप में की जाय तो उसमें वार्णिक **शिखरों** तथा अवार्णिक **गह्वरों** के रूप में चित्रित किये जाएँगे। इस रेखा में जितने शिखर होंगे, उस शब्द में उतने ही वर्ण होंगे। इस प्रकार निम्नलिखित शब्दों मे क्रमशः
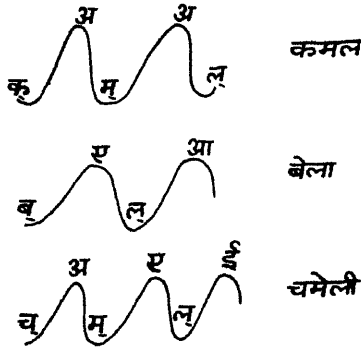
दो, दो और तीन वर्ण है। यद्यपि वर्णों का विभाजन पूरी तरह से ठीक-ठीक करना सभव नही है (क्योकि गह्वर कही-कही समतल होगे और सम धरातल में किसी नियत विन्दु पर विभाजन करना उचित नहीं होता), तथापि व्यावहारिक रूप से अधिकांश शब्दों का वर्ण-विभाजन कर लिया जाता है। उक्त शब्दो के वर्ण क्रमश. क–मल् ; बे–ला ; च–मे–ली है। जिस वर्ण के अन्त में स्वर होता है उसे **मुक्त** वर्ण और जिसके अन्त मे व्यंजन होता है उसे **बद्ध** वर्ण कहा जाता है। उक्त शब्दों में 'मल्' के अतिरिक्त शेष सभी मुक्त वर्ण है।

१३·१ वर्णो की आकृति का विश्लेषण करना हो तो स्वर के लिए अ (अच्) और व्यंजन के लिए ह (हल्) का प्रयोग किया जा सकता है। हिन्दी के वर्णों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

आकृति	**वर्ण**	**शब्द**
अ	अ, आ, ऊ	अजान, आजानु, ऊबा
अ ह	अब्	अब
ह अ	खा	खाना
ह अ ह	धन्	धन

ह् ह् अ	प्र	प्रणाम
ह् ह् अ ह्	स्वर्	स्वर
ह अ ह् ह् ह् ह	बस्व्य्	बस्व्यं
ह् ह् अ ह् ह् ह	कृत्स्न्	काशकृत्स्न

१४. ऊपर हमने औच्चारिकी का परिचय दिया है। स्वानिकी की दूसरी शाखा **सांचारिकी** पर अपेक्षाकृत देर से कार्य आरभ हुआ है। किन्तु समय की अल्पता को देखते हुए इसने पर्याप्त प्रगति की है। किसी स्थान पर वायु में उत्पन्न किया गया कम्पन ध्वनि को लगभग ११०० फीट प्रति सेकण्ड के वेग से चारों ओर फैला देता है। उसकी ऊर्जा क्रमशः क्षीण पड़ती जाती है और अन्ततः समाप्त हो जाती है। चूँकि ये ध्वनि-तरंगे भौतिक वस्तु है, इसलिए इनका प्रत्यक्ष अध्ययन भौतिकी का विषय है। सांचारिकी भौतिकी की एक शाखा मानी जाती है; किन्तु ध्वनि से सम्बन्धित होने के कारण वह स्वानिकी के अन्तर्गत भी आ जाती है। ध्वनि-तरंगो के विवेचन-विश्लेषण के लिए जिन अनेक यंत्रों की सहायता ली जाती है, उनमें **दृश्यग्राह** सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे ध्वनि-तरगों का जो चित्र खिचता है, उसे **दृश्यलेख** कहते है। सांचारिकी का विशेष विवरण यहाँ अपेक्षित नही है।

१५. स्वानिकी की तीसरी शाखा **श्रौतिकी** पर हुआ कार्य नहीं के बराबर है। इसमें श्रोता की दृष्टि से ध्वनि का विचार किया जाता है अर्थात् श्रोता को जो कुछ और जैसा सुनाई पड़ता है, उसी के अनुरूप ध्वनि का वर्णन किया जाता है।

(१) साँकरी गली में माय! काँकरी गरतु हैं।

(२) मदभरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल मे या विकल लघु मीन हैं?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी,
बीत जाने पर हुए ये दीन है?

(३) तनिक-तनिक तन की तन्वंगी तन-तन मारे तीर।
कन-कन धँसे बसे हियरा में छिन-छिन मीठी पीर॥

(४) दब्बत लत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से,
चब्बत लोह, अचब्बत सोनित गब्बत से।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही,
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तंग गही।
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही,
कुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही।

(५) धड़धद्धर धड़धद्धर भड़भब्भरं भड़भब्भरं,
तड़तत्तरं तड़तत्तरं कड़कक्करं कड़कक्कर।
घड़घग्घरं घड़घग्घरं झड़झज्झरं झड़झज्झर,
अरर्ररं अरर्ररं सरर्ररं सरर्ररं ।

(६) कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सो बाजि मर्दि गजराज करक्खत।।
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक विद्धरत, बीरवारिद जिमि गज्जत।।
लंगूर लपेटत पटकि भट जयति राम जय उच्चरत।
तुलसीस पवन नंदन अटल जुद्ध बुद्ध कौतुक करत।।

जब हम कहते है कि उक्त पद्यांशो में से प्रथम तीन श्रुतिमधुर और अन्तिम तीन अपेक्षाकृत श्रुतिकटु है तब हम श्रौतिकी की सीमा का स्पर्श कर रहे होते हैं। ध्वनियो की कोमलता-कठोरता श्रवण की, अतएव श्रौतिकी की, वस्तु है।

सीमान्तिकी

१६. व्यवहारवादी विद्वान वक्तव्य के पूर्ववृत्त तथा परवृत्त पर विशेष बल देते है और इन्हे अर्थ के रूप मे ही स्वीकार करते है। 'मुझे भूख लगी है।' वाक्य का पूर्ववृत्त यह हो सकता है कि क ने तीन दिन से खाना नहीं खाया है और अब वह भूख से तड़प रहा है, अथवा सुबह खाने के बाद उसे दोपहर मे फिर कुछ खाने की इच्छा हो रही है, यह भी संभव है कि उसे भूख न लगी हो और वह केवल विनोद कर रहा हो। उसने कितने समय से नही खाया है; उसने कुछ भी नहीं खाया है अथवा कोई हलकी-फुलकी वस्तु खाता रहा है जिससे कि उसे पूरी तृप्ति नही हुई है; उसकी भूख ने उसकी अनिच्छा और संकोच के बावजूद उसे यह कहने के लिए विवश कर दिया है अथवा उसने सामान्य रूप से यह बात कही है; दैन्यवश उसे किसी से भी यह निवेदन कर देना पड़ा है अथवा उसने अपने रसोइये से यह बात कही है; यह सब निश्चित नही है। इन स्थितियो का पता हमें उक्त वाक्य से नही चलता; किन्तु इसी प्रकार की बाते पूर्ववृत्त के अन्दर आती है। वक्तव्य के पहले वास्तविक जगत् में जो कुछ घट चुका है, वही उस वक्तव्य का **पूर्ववृत्त** है। पूर्ववृत्त में सहस्रो संभावनाएँ हो सकती है; उनमें से कुछ निश्चित संभावनाओं को वक्तव्य के साथ जोड़ना वक्तव्य के माध्यम से सभव नही है। वक्ता की बात सुनने के बाद उसका जो परिणाम होता है, उसे **परवृत्त** कहते है। क के वक्तव्य के बाद संभव है ख उसे किसी होटल में ले जाय; संभव है उसके लिए खाना बनाने लगे; संभव है अपने कटोरदान से कुछ निकालकर दे दे; संभव है दो-चार आने पैसे निकालकर उसकी ओर फेंक दे; संभव है उसकी ओर देखे और एक निःश्वास

फेककर चल दे ; संभव है उसकी ओर देखे भी नहीं और ऐसे बढ़ता चला जाय मानो किसी ने कुछ कहा ही न हो । यही सारी बातें परवृत्त के अन्तर्गत आती हैं। वक्तव्य की सहायता से हम यह नही कह सकते कि इसका परवृत्त अमुक ही होगा। इसी प्रकार परवृत्त देखकर हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि इसके मूल में अमुक वक्तव्य ही रहा होगा। इसलिए किसी वक्तव्य का पूर्ववृत्त और / अथवा परवृत्त ही उस वक्तव्य का अर्थ है, ऐसा कहना उपयुक्त नही है । एक ही वक्तव्य का पूर्ववृत्त और परवृत्त व्यक्ति-व्यक्ति और प्रसंग-प्रसंग के अनुसार बदलता रहता है। किन्तु वक्तव्य का भाषायी अर्थ प्रत्येक स्थिति में एक होता है। किसी वस्तु, स्थिति या भाव आदि तथा उसके लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के बीच की कडी अर्थात् उनका पारस्परिक सबध ही उस शब्द का अर्थ है ।

१७ शब्दों के साथ अर्थ ऐच्छिक रूप से संबद्ध कर दिया गया है, इस बात का उल्लेख पीछे के पृष्ठों मे किया जा चुका है। एक शब्द जिस वस्तु का अर्थ देता है, कोई भी दूसरा शब्द उस वस्तु का अर्थ दे सकता था। एक शब्द जो अर्थ देता है, वही शब्द उससे भिन्न कोई दूसरा अर्थ भी दे सकता था। इसके लिए केवल समाज के निर्णय की आवश्यकता थी ।

१७·१ वास्तविक जगत् की किस वस्तु और किस स्थिति के कितने और किस भाग को एक इकाई के रूप में देखा जायगा और उसे एक शब्द से अभिहित किया जायगा, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। मनुष्य के बाहु के कितने भाग किये जायँ, इसका निश्चय प्रत्येक भाषा अपने-अपने ढंग से करती है। यदि उसके एक भाग को स्वतत्र इकाई के रूप मे 'हथेली' कहा जाता है तो क्या हथेली से लेकर कुहनी तक के लिए और कुहनी से लेकर कन्धे तक के लिए भी स्वतंत्र शब्द नही होने चाहिए ? यदि अँगुलियों के लिए पृथक्-पृथक् शब्द हो सकते है तो उनके पोरों के लिए अलग-अलग शब्द क्यो नही हो सकते ? प्रत्येक अँगुली के नाखून के लिए क्या स्वतंत्र शब्द नही निर्मित किया जा सकता ? जो नाखून हम स्वयं काटकर फेक देते हैं क्या उसके लिए उस नाखून से भिन्न किसी शब्द का प्रयोग करना अनुचित होगा जिसके टूटने से हमें वेदना होती है ? यदि नाक के छिद्र को 'नथना' कहा जा सकता है तो कान के छिद्र को भी कोई नाम क्यों नहीं दिया जा सकता ? मुस्कराहट की लघुतम मात्रा से लेकर अट्टहास की गुरुतम मात्रा तक हँसी की अनेक कोटियाँ होती है जो आनन्द की परिचायिका होती है। इनके लिए 'मुस्कराना' और 'हँसना' के अतिरिक्त अन्य किसी कोटि का द्योतक शब्द भी क्यों नही प्रयुक्त होता§ ?

---

§ खिलखिलाना, किलकना, ठहाका लगाना आदि 'हँसने' के ही भेद-प्रभेद हैं, हँसने से अलग किसी अन्य कोटि के लिए प्रयुक्त होने वाले सामान्य शब्द नहीं हैं ।

यदि ओठों आदि की सहायता से व्यक्त होने वाला आनन्द का यह स्वरूप एक ही इकाई के रूप मे देखा जाय तो इसमे क्या अनौचित्य है† ?

१७·२ इन्द्रधनुष में रग की क्रमबद्ध परिवर्त्तनशीलता मिलती है, किसी भी विन्दु का रग अपने आस-पास के रंग से बहुत अधिक मिलता-जुलता होता है। दुनियाँ के सभी लोगो के पास एक-सी आँखे होती हैं जिनमे देखने की एक-जैसी शक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि छोटी-बडी, कैंची-सीधी, नीली-भूरी आदि आँखें किसी वस्तु को उसी प्रकार देखती है। अन्धो और क्षीण दृष्टि वालो की बात अलग है। देख सकने की शक्ति का बँटवारा भाषा के आधार पर नही होता। दूसरी ओर, इन्द्रधनुष एक भौतिक वस्तु होने के नाते सभी के लिए एक रहता है, ऐसा नही है कि हिन्दी बोलने वालों के सामने एक तरह का रहे और अँगरेजी बोलने वालो के सामने बदल कर दूसरी तरह का हो जाय। इसके बावजूद अँगरेजी बोलने वाले इन्द्रधनुष की क्रमबद्ध परिवर्त्तनशीलता के छह भाग करके उन्हे छह इकाइयों के रूप मे देखते हैं और उनके रग के लिए छह भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग करते है, शोना (रोडेशिया की एक भाषा) बोलने वाले इन्द्रधनुष के तीन टुकडे करते है और बस्सा (लाइबेरिया की एक भाषा) बोलने वाले छह या तीन के बजाय दो ही टुकड़े करते है। अँगरेजीभाषी कहेंगे कि इन्द्रधनुष में छह रंग है :—पर्पिल, ब्लू, ग्रीन, येलो, ओरेंज, रेड। शोनाभाषी कहेगा कि उसमे तीन रग है :—चिप्स्वुका, चितेमा, चिचेना। बस्साभाषी कहेगा कि उसमे दो ही रग है —हुई, जिजा। होता यह है कि ब्लू के एक अंश को तथा पर्पिल, ओरेंज और रेड को शोनाभाषी एक रग के रूप मे स्वीकार करते है, जिसे वे चिप्स्वुका कहते हैं। ग्रीन का कुछ अश और अधिकांश ब्लू उनके लिए एक ही रग है जिसका नाम है चितेमा। इसी प्रकार पूरा येलो और अधिकाश ग्रीन उनको एक ही रग के रूप मे स्वीकार है जिसे वे चिचेना कहते है। बस्सावाले पर्पिल, ब्लू और ग्रीन को एक ही रंग मानते है जिसे वे हुई कहते है। इसी प्रकार येलो, ओरेंज और रेड को एक ही रंग मानते हुए वे उसे ज़िजा कहते है।

मुक्त हास, अट्टहास आदि (जैसा कि इन शब्दों से ही प्रकट है) भी इसी प्रकार 'हँसी' के प्रकार है। यदि 'हँसी' शब्द को भूलकर उसके विशिष्ट रूपो को महत्त्व दिया जाय तो प्रश्न उठता है कि 'मुस्कराहट' के भी इसी प्रकार के विशिष्ट रूप क्यों न अभिव्यक्त किये जायँ। 'स्मित हास्य' शब्दानुक्रम में मुस्कराहट को भी हँसी का एक विशिष्ट रूप मान लिया गया है ; किन्तु यह वस्तुतः शास्त्रीय विश्लेषण मे ही प्राप्त होने वाली स्थिति है। दैनिक व्यवहार में हँसना-मुस्कराना दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ है।

† कोर्कूभाषी इसके लिए 'लन्दा' शब्द का प्रयोग करते है जिसका अर्थ हमारे शब्दों मे 'हँसना' भी है और 'मुस्कराना' भी।

मध्यप्रदेश के मवासी 'लीला' शब्द का प्रयोग हमारे नीले तथा हरे रंगो के लिए करते हैं।

१८. शब्द के साथ इस प्रकार ऐच्छिक रूप से संबद्ध किये गये अर्थ की पूरी व्यापकता का ज्ञान मनुष्य को अनुभव से होता है। पूर्ववृत्त और परवृत्त अपने आप में अर्थ नही हैं; लेकिन अर्थ को समझने के एकमात्र साधन वही है। बच्चा प्रसगो को देखता है, उनमे स्वय सम्मिलित होता है और उनमे भाषा की कार्य-कारिता को समझता है। अर्थ के अर्जन की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। अपने घर के श्वेत वर्ण के एक पशु-विशेष के लिए जब बच्चा 'गाय' शब्द का प्रयोग सीख लेता है, तब भी उसे यह सीखना शेष रह जाता है कि दूसरे घरों मे मिलनेवाले वैसे ही जानवर के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया जायगा ; रग उजला न होकर काला या भूरा हो तब भी इसी शब्द का प्रयोग किया जायगा , यही नही, दीवाल या कागज आदि पर बने किसी विशेष चित्र के लिए भी सक्षेप में 'गाय' शब्द का प्रयोग किया जा सकेगा जिससे उक्त पशु का साम्य खोजने में कुछ कल्पना का सहारा लेना पड़ेगा और मिट्टी-लकडी के किसी खिलौने को भी 'गाय' कहा जा सकेगा जिससे किसी प्रकार आकृति-साम्य मात्र स्थापित किया जा सकता है।

१६. अर्थार्जन की इस प्रक्रिया में मनुष्य अनायास और अनजाने अर्थ के **भेदक तत्वों** तथा **अभेदक तत्वों** का विश्लेपण किया करता है। यदि काली गाय भी 'गाय' है, भूरी गाय भी 'गाय' है और उजली गाय भी 'गाय' है तो 'गाय' के लिए रंग एक अभेदक तत्त्व है। यदि छोटी गाय भी 'गाय' है और बड़ी गाय भी 'गाय' है तो उसके लिए ऊँचाई भी एक अभेदक तत्त्व है। इसी प्रकार यदि हत्थेवाली कुर्सी भी 'कुर्सी' है और बिना हत्थेवाली कुर्सी भी 'कुर्सी' है तो कुर्सी के अर्थ के लिए हत्था एक अभेदक तत्त्व है। यदि बेत की सीट वाली कुर्सी भी 'कुर्सी' है और लकडी की सीटवाली कुर्सी भी 'कुर्सी' है तो सीट का बेत या लकड़ी का होना एक अभेदक तत्त्व है। यदि 'कुर्सी' लकड़ी की भी हो सकती है, लोहे की भी हो सकती है और सोने की भी हो सकती है तो कुर्सी के अर्थ में यह बात एक अभेदक तत्त्व है कि वह किस धातु की बनी है। 'मेज' यदि लकड़ी की भी हो सकती है और लोहे की भी तो निर्माण में लगी धातु का प्रश्न यहाँ भी अभेदक है। यदि 'मेज' बड़ी और छोटी दोनो हो सकती है तो मेज के अर्थ के लिए उसका आकार एक अभेदक तत्त्व है। यदि मेज का ऊपर का आधा (या आधे के लगभग) भाग ढालू हो और उसका ढक्कन के रूप में प्रयोग किया जाता हो तो इस प्रकार की मेज 'मेज' नही 'डेस्क' होगी। यहाँ ऊपर के आधे (या आधे के लगभग) भाग का ढालू होना-न होना और उसका ढक्कन के रूप मे उपयोग होना-न होना एक भेदक तत्त्व है क्योंकि इसी के कारण एक वस्तु 'मेज' हो जाती है और दूसरी 'डेस्क'।

२०. अर्थार्जन का कार्य मनुष्य का मस्तिष्क करता है ; इसलिए शब्द का अर्थ मनुष्य के मस्तिष्क में रहता है। शब्द और वाच्य वस्तु मे परस्पर सीधा सबंध नहीं है। ओग्डेन और रिचार्ड्स ने यह स्थिति एक त्रिकोण के द्वारा समझाई है,
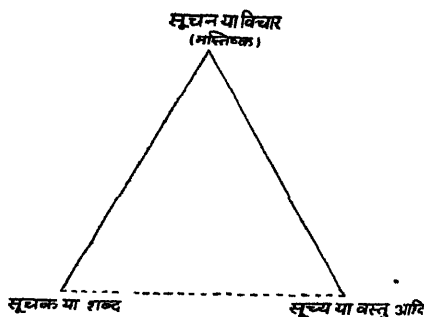
जिसे उन्होने 'सूचन का त्रिकोण' कहा है। इसमें विन्दु-रेखा का प्रयोग सबध की अप्रत्यक्षता का संकेत करने के लिए किया गया है।

२०·१ चूँकि शब्द का अर्थ मनुष्य के मस्तिष्क में रहता है और प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क की बात सामने भौतिक रूप से प्रदर्शित नही की जा सकती ; इसलिए स्वभावतः इस बात की कोई व्यवस्था नही है जिसके द्वारा सभी लोग किसी शब्द के अपने-अपने अर्थ को सामने रखकर एक दूसरे के अर्थ से उपयोगी तुलना कर सके और किसी प्रकार का अन्तर न रहने दें। हम पूर्ववृत्त और परवृत्त की सहायता से शब्द का अर्थ सीखते हैं और समाज में उसका व्यवहार करते है, इसलिए समाज के सभी सदस्यो के अर्थ प्रायः एक-से होते है। अर्थार्जन की निरन्तर गतिशील प्रक्रिया भी किसी प्रकार के रहे-सहे अन्तर को समाप्त करती रहती है। इसलिए अन्तर की संभावना कम हो जाती है। फिर भी मस्तिष्क अदृश्य है और अर्थार्जन की प्रक्रिया के चलते रहने का अभिप्राय भी यही है कि सारे सदस्यों के मस्तिष्क में सारे सदस्यों के अर्थ का चित्र पूर्ण नही होता। फलतः सामूहिक रूप से भी शब्दों का अर्थ सूक्ष्म रूप से बदलता रहता है। यह **परिवर्तन** निरन्तर चलता रहता है जिसके कारण अनेक शब्दों का अर्थ बहुत समय के बाद पर्याप्त मात्रा मे बदल जाता है।

२०·२ चूँकि भाषा के द्वारा समाज का सचालन होता है और इसके लिए भाषा का परस्पर समझा जाना आवश्यक है, इसलिए शब्दार्थ-परिवर्तन क्षिप्र नही हो सकता। इस परिवर्तन की गति इतनी धीमी होती है कि कोई व्यक्ति जान भी नही पाता। इस आशय में हम यह कह सकते हैं कि शब्दार्थ **निरन्तर** होता है और प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समय कोई **निश्चित** अर्थ होता है। किसी शब्द का अर्थ सहसा परिवर्तित हो जाय, यह संभव नही है।

स्वानिमी

२१. स्वानिमी की आधारभूत इकाई स्वनिम कहलाती है। मिलती-जुलती ऐसी ध्वनियों या ध्वनिगुणों का भावानयन **स्वनिम** कहलाता है जो व्यवहार की दृष्टि से किसी विशेष भाषा में एक ही इकाई बनाएँ।

२१·१ सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य प्रत्येक ध्वनि का उच्चारण एक ही बार करता है। यदि हम किसी ध्वनि का उच्चारण दस बार करते है तो वस्तुतः यह उच्चारण दस भिन्न-भिन्न ध्वनियो का होता है। किन्तु यह भिन्नता इतनी अल्प होती है कि हम उसे पकड़ नही पाते। इस प्रकार हम किसी भी ध्वनि का उच्चारण बिल्कुल उसी तरह जीवन मे दुबारा नही कर सकते। कम-से-कम यह सम्भावना उतनी ही अल्प होती है जितनी आकाश में दो सितारों के परस्पर टकरा जाने की। दूसरी ओर, दो व्यक्तियो द्वारा उच्चरित ध्वनियाँ भी कभी पूर्णतः समान नही होती। किन्तु यह भिन्नता भी उतनी ही सूक्ष्म होती है। एक ही स्थान के दो व्यक्तियो को बोलते सुनकर हम शायद यह तो जान सकते है कि ये दो अलग-अलग व्यक्ति हैं, ये स्त्री हैं या पुरुष; किन्तु हम यह नही जान सकते कि इन दो व्यक्तियों द्वारा उच्चरित एक ही ध्वनि वास्तव मे एक-दूसरे से भिन्न है—उसके उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न आदि में कुछ भेद है।

समाज के सारे सदस्यों को ध्यान में रक्खे और उनके जीवन भर मे उच्चरित भाषा पर विचार करें तो एक ही ध्वनि का उच्चारण असंख्य बार करना पडता है। ये वास्तव मे असंख्य ध्वनियाँ होती है जिनमे परस्पर पार्थक्य होता है; फिर भी हम इन्हें एक ही ध्वनि समझते है। ऐसा क्यों होता है?

यदि हम उच्चारण की समस्त संभावनाओं को एक विस्तृत क्षेत्र के रूप में कल्पित करें तो उसमें असंख्य विन्दु होंगे। यह प्रत्येक विन्दु हमारे एक-एक बार के उच्चारण के समान है। यदि उक्त क्षेत्र के कई भाग कर दिये जायँ तो इनमें से प्रत्येक भाग में भी असंख्य विन्दु होंगे। जिसे हम एक ही ध्वनि समझते रहते हैं वह वस्तुतः इसी प्रकार का एक भाग होती है। जिस प्रकार इस भाग की परिधि के अन्तर्गत असंख्य विन्दु होते हैं लेकिन हम उन सबको उस भाग से ही सम्बद्ध करते हैं, उसी प्रकार तथाकथित एक ध्वनि (–क्षेत्र) के असंख्य भिन्न-भिन्न उच्चारणों को हम उसी ध्वनि से सम्बद्ध करते हैं। यदि हमारा उच्चारण ध्वनि की उक्त परिधि के अन्तर्गत ही किसी विन्दु को छूता है तो हम उसे उसी ध्वनि के रूप में सुनते है; किन्तु यदि वह उक्त परिधि के बाहर जाने लगता है तो उसके अन्य ध्वनि के रूप में सुने जाने की सम्भावना बढ़ने लगती है। कई विद्वानों ने स्वनिम की जो परिभाषा दी है उसके अनुसार हम उक्त परिधि को स्वनिम मान सकते हैं। लेकिन हमारी परिभाषा में स्वनिम को 'क्षेत्र' के बजाय 'भावानयन' के रूप में स्वीकार किया गया

है । वास्तव मे जब हम किसी क्षेत्र की कल्पना करते है तो उसमे तुरन्त ही असंख्य विन्दु समाविष्ट हो जाते है । इसके विपरीत स्वनिम के क्षेत्र की उच्चारण-सभावनाएँ अरबों की संख्या मे भविष्य के गर्भ में छिपी रहती है, भूत मे विलीन हो चुकती है अथवा समाज के अन्य सदस्यों के द्वारा व्यवहृत होती रहती है, जिन्हे हम सुन नही पाते । इस प्रकार व्यक्ति के मस्तिष्क मे स्वनिम का क्षेत्र नही रह सकता । अनेक विन्दुओं के उच्चारण के और उसके श्रवण के अभ्यस्त होकर हम भावानयन करते है और उस भावानीत ध्वनि का स्वरूप हमारे मस्तिष्क मे रहता है । यदि कोई ध्वनि हमारे इस भावानयन के अनुरूप होती है तो हम उसे इस ध्वनि के रूप मे ग्रहण करते है अन्यथा किसी अन्य ध्वनि के रूप मे । ये भावानीत इकाइयाँ कई होती है और इनका अस्तित्व हमारे मस्तिष्क मे होता है । प्रत्येक भावानीत इकाई एक स्वतन्त्र स्वनिम होती है और स्वभावत. प्रत्येक स्वनिम के अन्तर्गत होने वाले उच्चारण एक-दूसरे से मिलते-जुलते होते है । यह साम्य उच्चारण-स्थान और/या प्रयत्न का होता है ।

२१·२ वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए हम प्रत्येक स्वनिम को भी कई भागों में विभाजित करते है और उन विभागो का पारस्परिक सम्बन्ध देखते है । ये प्रत्येक स्वनिम के सदस्यों के रूप मे होते है । ये सदस्य अपने-अपने स्वनिम के **संस्वन** कहे जाते है । उच्चारण के क्षेत्र में सस्वन की भी अपनी परिधि होती है । प्रत्येक स्वनिम मे कितने सस्वन है, यह बात एक ही प्रकार से निश्चयपूर्वक नही कही जा सकती । यदि हम किसी स्वनिम के अधिक भाग करते है तो उसमे अधिक सस्वन होगे । यदि हम उस स्वनिम के कम खंड करते है तो संस्वनों की संख्या कम होगी । प्राय: स्वनिमों के कम विभाग करने की ही परम्परा है, जिसके फलस्वरूप ऐसे मुख्य-मुख्य सस्वन ही सस्वनों के रूप में स्वीकार किये जाते है जिनका अन्तर अधिकांश लोग थोडे-से प्रयत्न से सुन और समझ सके । ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि स्वनिम की अपने आप मे कोई भौतिक सत्ता नही है । जो हम बोलते है और जो हमारे कान मे पहुँचता है, वह स्वनिम नही होता, ध्वनि होती है । वास्तव मे वह सस्वन भी नही होता क्योंकि संस्वन भी उच्चारण की सम्भावनों की एक परिधि के रूप मे होता है । फिर भी सामान्य व्यवहार में हम यह कहते है कि हम उच्चारण में स्वनिमो के सस्वनो का ही व्यवहार करते है । जब उच्चारण की इस वैज्ञानिक स्थिति का रूप भलीभाँति स्पष्ट कर दिया जाता है, तब हम सरलता के लिए 'स्वनिमो के उच्चारण' की भी बात करने लगते है, यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह उक्त वक्तव्य से अधिक अवैज्ञानिक सिद्ध होता है । उसकी अभौतिक सत्ता मे हम अवश्य ही स्वनिम का उच्चारण और श्रवण करते है; क्योंकि वक्ता तथा श्रोता दोनो के लिए स्वनिम ही **यथार्थ** होता है ।

२१·३ अपनी परिभाषा के अनुकूल शब्दो मे कहें तो अनेक सस्वन मिलकर

व्यवहार में स्वनिम नामक एक ही इकाई बनाते है। व्यवहार मे एक ही इकाई बनाने का क्या अर्थ है ?

स्वनिमों के व्यवहार करने का तात्पर्य है उनका मिल-जुल कर सार्थक शब्द बनाना और उच्चारों को पृथक् रखना। 'आम' और 'राम' दो भिन्न-भिन्न शब्द है, इसका कारण यह है कि दूसरे शब्द मे प्रथम शब्द के सारे स्वनिम ज्यों-के-त्यों भले हो उपस्थित हो, उनके पहले एक और स्वनिम /र्/ भी विद्यमान है जो पहले शब्द मे नहीं है। /आ/ तथा /म्/ ने मिलकर 'आम' शब्द की रचना की, /र्/, /आ/ तथा /म्/ ने मिलकर 'राम' की रचना की और /र्/ स्वनिम ने इन दोनों उच्चारों को पृथक् रक्खा। अपने इस व्यवहार में कोई स्वनिम एक ही इकाईके रूप में कार्य करे इसके लिए आवश्यक है कि उसके सदस्य अर्थात् संस्वन कभी एक दूसरे के विरोध अथवा **व्यतिरेक** में न आएँ।

२१·४ व्यतिरेक में आने का तात्पर्य है एक ही **परिवेश** में आ सकना और अर्थ-भेद कर देना। उच्चार के आदि मे, /आल्/ के पूर्व, [क्] तथा [ग्] दोनों का प्रयोग हो सकता है जिससे हमें भिन्न-भिन्न अर्थ देने वाले 'काल' और 'गाल' शब्द प्राप्त होंगे। [क्] और [ग्] ध्वनियों का परिवेश यहाँ एक ही है क्योंकि दोनों आद्य स्थिति में हैं (उनके पहले और कोई स्वनिम नहीं है) तथा दोनों के बाद एक ही स्वनिमानुक्रम /आल्/ है, यहाँ [क्] के बजाय [ग्] का और [ग्] के बजाय [क्] का प्रयोग अर्थ-भेद कर देता है। इसलिए [क्] तथा [ग्] परस्पर व्यतिरेक मे है। फलतः ये एक ही स्वनिम के संस्वन नहीं हैं बल्कि पृथक्-पृथक् स्वनिम है।§ उच्चारों का ऐसा युग्म जो एक ही स्वनिम के कारण पार्थक्य प्राप्त करता हो, **लघुतम युग्म** कहलाता है। इसमें युग्म लघुतम नही होता बल्कि भेदक स्वनिमों की संख्या लघुतम अर्थात् एक होती है। /काल्/ तथा /गाल्/ एक लघुतम युग्म है। /काल्/ और /मील्/ लघुतम युग्म नही है।

२१·५ व्यतिरेक में न आने के लिए एक सम्भावना यह हो सकती है कि दो ध्वनियाँ **पूरक बंटन** में हों अर्थात् उनका वितरण इस प्रकार का हो कि जिस परिवेश में एक आती हो, उसमें दूसरी न आती हो। उदाहरणार्थ, अँगरेजी में हमारे 'ल्' से मिलती-जुलती दो ध्वनियाँ है जिन्हे हम सुविधा के लिए [ल्] तथा [ल़्] संकेतों से व्यक्त कर सकते हैं। इनमें से पहली ध्वनि हिन्दी 'ल्' से बहुत मिलती-जुलती है और

---

§सस्वनों को अथवा ऐसी ध्वनियों को जिनका स्वानिमिक स्तर निश्चित न हो पाया हो, [ ] के बीच लिखा जाता है। स्वनिमों के लिए / / का उपयोग किया जाता है। चूँकि [क्] और [ग्] स्वनिम सिद्ध हो गये हैं, इसलिए अब इन्हें हम /क्/ और /ग्/ के रूप में लिख सकते है।

दूसरी ध्वनि कुछ भिन्न है। उसके उच्चारण में 'ल्' के उच्चारण का स्वरूप तो होता ही है, साथ-साथ जिह्वापश्च उत्कठ की ओर उठता है। थोड़ा ध्यान देने पर सभी हिन्दी वाले इन ध्वनियों का भेद सुन सकते है। किन्तु ये दोनों पूरक बटन में है अर्थात् जिस परिवेश मे एक ध्वनि आती है, उसमे दूसरी कभी नहीं आती।

[ल्] स्वरों तथा य् के पूर्व।

[ऌ] अन्य व्यजनो के पूर्व तथा शब्दान्त मे।

इसी नियम के अनुसार लीव, लेक, लैण्ड, मिल्यन आदि शब्दों मे [ल्] का और बोल्ड, गोल्ड, किल्ड, बेल्च, बेल्ट, फुल, कॉल, मिल आदि शब्दों मे [ऌ] ध्वनि का उच्चारण होता है।

हिन्दी मे इसी प्रकार जिसे हम 'र्' लिखते है, वह वास्तव मे तीन ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होने वाला लिपिचिह्न है। इन तीनो ध्वनियो को हम [र्-१], [र्-२] और [र्-३] कह सकते है। परिवेश के अनुसार इनका वितरण इस प्रकार है.

[र्-१] दो स्वरो के बीच तथा शब्द की आद्य स्थिति में।

[र्-२] व्यजन-स्वर के बीच तथा शब्दान्त में।

[र्-३] स्वर-व्यंजन के बीच।

इनमें से पहली ध्वनि के उच्चारण मे जिह्वानोक धीरे से काँपती है और प्राय: अधिक-से-अधिक एक लघ्वाघात करती है। कुछ लोगो के उच्चारण में यह संघर्षी की भाँति भी उच्चरित होती है, जिसमें संघर्ष की मात्रा पर्याप्त कम होती है (यह उच्चारण शब्दादि में अधिक मिलता है)। उदाहरणार्थ:—आराम, विरत, सुरम्य, रम्य, ऋण, रोचक।

दूसरी ध्वनि के उच्चारण मे जिह्वानोक का कंपन अपेक्षाकृत तीव्र होता है, लघ्वाघातों की संख्या दो-तीन होती है और शब्दान्त मे कुछ लोगो के उच्चारण में लुंठन के साथ संघर्ष भी विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ:—क्रम, प्रण, तृण, क्रान्ति, स्रोत, और, वीर, शूर, पीर।

तीसरी ध्वनि के उच्चारण मे जिह्वानोक और तीव्रता के साथ कॉपती है तथा कई लघ्वाघात करती है। इसमे सघर्ष नही मिलता। उदाहरणार्थ:—अर्घ्य, कर्त्तन, मूर्धन्य, अर्पण, शर्म, अर्गला।

हिन्दी-भाषियो को इन तीनों ध्वनियो का अन्तर सुनने के लिए उपर्युक्त शब्दो का बार-बार उच्चारण करना चाहिए और यह अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिए कि उनकी जिह्वानोक क्या करती है। जो लोग स्वानिकी में प्रशिक्षित नही हैं, उन्हें यह अन्तर सुनने मे महीनों भी लग सकते है।§

---

§ यह तथ्य भी इसी बात का प्रमाण है कि हमारे लिए ये तीनो ध्वनियाँ एक ही इकाई अर्थात् एक ही स्वनिम के रूप मे कार्य करती हैं। यदि ये पृथक्-पृथक् स्वनिम होते तो हम इनकी भिन्नता सहज ही सुन लेते।

वितरण के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इन ध्वनियों में व्यतिरेक नही होता, इनमे पूरक बंटन है। इसलिए हम यह कह सकते है कि ये अलग-अलग स्वनिम नही है बल्कि एक ही स्वनिम के तीन सस्वन है और इस कारण व्यवहार मे इन्हें एक ही इकाई मानते हुए हम इनके लिए एक ही लिपिचिह्न /ऱ्/ का प्रयोग कर सकते है।

अँगरेजी मे बली वर्ण मे वार्णिक के पूर्व आने वाला क् [ख्] के रूप मे उच्चरित होता है, किन्तु यदि उसके पहले स् विद्यमान हो तो [क्] के रूप में उच्चरित होता है। वार्णिक के बाद अथवा निर्बल वर्ण मे [क्] उच्चारण ही मिलता है। जिसे हम 'स्किन' कहते है उसका उच्चारण तो यही है लेकिन जिसे हम 'किन' कहते है उसका अँगरेजी उच्चारण 'खिन' है। इन दोनो ध्वनियो मे भी व्यतिरेक नही है, पूरक बंटन है और इसलिए ये दोनों एक ही स्वनिम की रचना करती हैं।

२१·६ हमारी परिभाषा मे एक शर्त यह भी रक्खी गई है कि एक ही स्वनिम के अन्तर्गत आने वाली ध्वनियाँ मिलती-जुलती होनी चाहिए। इसके सम्बन्ध में ऊपर कुछ चर्चा भी की जा चुकी है। यदि दो ध्वनियाँ पूरक बंटन में हों लेकिन मिलती-जुलती न हो तो वे भिन्न-भिन्न स्वनिम होंगी, उसी प्रकार जैसे दो मिलती-जुलती ध्वनियाँ पूरक बंटन में न होने पर (व्यतिरेक मे होने पर) भिन्न-भिन्न स्वनिम होती है। अँगरेजी मे ह् और ङ् ध्वनियों का वितरण इस प्रकार है :—

[ह्] शब्दादि मे तथा द्विस्वरान्तर्गत। उदाहरणार्थ हैण्ड, विहाइण्ड।
[ङ्] शब्दान्त मे तथा व्यजन के पूर्व। उदाहरणार्थ टङ्, बैङ्गिल।

इस प्रकार इन दोनो ध्वनियों में पूरक बंटन है किन्तु ये मिलती-जुलती नही है क्योंकि इनमें उच्चारण-स्थान या प्रयत्न किसी मे कोई साम्य नहीं है। इसलिए ये एक ही स्वनिम की रचना नही करतीं बल्कि भिन्न-भिन्न स्वनिमों की रचना करती है।

इस निर्णय के पीछे है हमारी यह मान्यता कि स्वनिम एक ही इकाई होता है और विभिन्न परिवेशो मे उसमें थोडा-थोड़ा परिवर्तन हो जाता है। क नामक व्यक्ति कोट-पैण्ट पहनकर विश्वविद्यालय जाता है और अण्डरवियर पहन कर बाथरूम में जाता है। इन दोनो परिवेशों में उसका यह पूरक बंटन है; लेकिन व्यक्ति वही रहता है। जिस प्रकार हम वेश-भूषा को भूलकर व्यक्ति को पहचान लेते है, स्वनिम को पहचानने की क्रिया कुछ उसी प्रकार की है। परिवेशो के कारण होने वाला अन्तर वेश-भूषा की भाँति है और दोनों का ध्वन्यात्मक साम्य व्यक्ति के शरीर की भाँति है। यदि अँगरेजी में [क्] और [ख्] एक स्वनिम की रचना करते हैं तो हम यों कह सकते हैं कि /क्/ स्वनिम नामक व्यक्ति एक परिवेश मे महाप्राणत्व नामक वस्त्र धारण करके जाता है और दूसरे परिवेश मे उसको धारण नही करता।

२१·७ यदि क व्यक्ति बाथरूम मे कोट-पैण्ट पहनकर स्नान करने लगे और अण्डरवियर पहनकर विश्वविद्यालय के लिए रवाना हो जाय तो हमे बड़ा अटपटा लगेगा लेकिन हमे उसको पहचानने मे कोई कठिनाई नही होगी । इसी प्रकार दो सस्वन यदि कभी एक-दूसरे के परिवेश में आ भी जायँ तो हमे अटपटा अवश्य लगेगा ; किन्तु स्वनिम को पहचानने मे हमे कोई कठिनाई नही होगी । इससे शब्दार्थ मे भेद भी नही आ सकता । कभी-कभी ऐसा होता है कि दो ध्वनियाँ एक ही परिवेश मे आ सकने के लिए स्वतत्र होती है; किन्तु अर्थ मे भेद नही कर पाती । अर्थ मे भेद न कर पाने के कारण ही इसे व्यतिरेक नही कहा जाता, **मुक्त विभेद** कहा जाता है । व्यतिरेक मे न आने की यह दूसरी सभावना है । 'दीवाल–दीवार' युग्म मे 'ल्–र्' मे मुक्त विभेद है क्योंकि इनका परिवेश पूर्णतः एक है और इनके कारण कोई अर्थ-भेद नही हो रहा है । यदि मुक्त विभेद मे आने वाली ध्वनियाँ भाषा मे कही भी व्यतिरेक न प्रदर्शित करती हो तो उन्हें हम एक ही स्वनिम के अतर्गत रखते है । 'हाल-हार' युग्म से यह पता चलता है कि 'ल्-र्' मे व्यतिरेक होता है क्योंकि एक ही परिवेश में आकर ध्वनियाँ अर्थ-भेद कर रही हैं । फलतः हमे इन दोनों को दो स्वतन्त्र स्वनिमों के रूप में स्वीकार करना पडता है । इस उदाहरण से यह प्रमाणित होता है कि हमें अपने निष्कर्ष सारी भाषा पर आधारित करने चाहिए, थोड़े-बहुत अंश पर नही । 'दीवाल-दीवार' के युग्म के सम्बन्ध में हम यह कह सकते है कि इसमें /ल्/ तथा /र्/ स्वनिमों में मुक्त विभेद मिलता है। अनेक लोगों की रूसी भाषा में च और कोमल त (त्य-सदृश) मे तथा ज और कोमल द (द्य-सदृश) मे मुक्त विभेद मिलता है और इन युग्मो में कही भी व्यतिरेक नहीं मिलता, इसलिए एक ओर [च्] तथा [त्य्] एक ही स्वनिम के सस्वन सिद्ध होते है, दूसरी ओर [ज्] तथा [द्य्] एक ही स्वनिम की रचना करते है । उदाहरणार्थ :—

प्याच अथवा प्यात्य—'पाँच'

अजीन अथवा अद्यीन—'एक'

कोर्कू भाषा मे अनेक शब्दों में सस्वनों के मुक्त विभेद के उदाहरण मिलते है । उदाहरणार्थ, केन या खेन='को' ।

२१·८ हमारी परिभाषा का एक अंग यह भी है कि स्वनिमों का निर्धारण किसी विशेष भाषा के लिए ही हो सकता है, सारी भाषाओं के लिए सामान्य रूप से नही हो सकता । अँगरेजी और कोर्कू में [क्] तथा [ख्] एक ही स्वनिम के दो संस्वन हैं लेकिन हिन्दी में ये स्वतंत्र स्वनिम है क्योंकि हिन्दी मे इनमें व्यतिरेक मिलता है । उदाहरणार्थ, काल-खाल । इसी प्रकार अँगरेजी में [ल्] और [ऌ्] एक ही स्वनिम के दो संस्वन हैं; किन्तु रूसी में ये स्वतंत्र स्वनिम हैं । उदाहरणार्थ,

लूक—विपाट द्वार

ऌूक—प्याज

मोल—कीट
मोल—घाट
म्येल— तट
म्येल—चॉक

कोई स्वनिम किसी विशेष भाषा का ही स्वनिम हो सकता है, अनेक भाषाओं का नहीं; इसका एक कारण यह भी है कि स्वनिम किसी भाषा के ध्वन्यात्मक व्यतिरेकों की व्यवस्था का एक अंग होता है, कोई भौतिक वस्तु या घटना नहीं होता। व्यतिरेकों की व्यवस्था एक भावातीत वस्तु है और दुनिया की किन्हीं भी दो भाषाओं में व्यतिरेकों की एक ही व्यवस्था नहीं हो सकती। प्रत्येक भाषा के स्वनिमों की सख्या अन्य भाषाओं से कुछ-न-कुछ भिन्न होती है, उनके स्वनिमों में से प्रत्येक की व्याप्ति के क्षेत्र में कुछ-न-कुछ भेद होता है और उनके ध्वन्यात्मक मूल्य भी पूर्णतः समान नहीं होते। इसलिए यदि हमें किसी स्वनिम पर विचार करना हो तो जिस भाषा की बात है, उसकी समग्र व्यवस्था जाने बिना हम कुछ नहीं कर सकते और उस स्वनिम की यथार्थता उस भाषा के सिवा और किसी भाषा के लिए नहीं हो सकती। यदि हम किसी भाषा के स्वनिम की चर्चा करना चाहें तो हम उसका विवरण नकारात्मक शब्दों में पूर्ण वैधता के साथ इस प्रकार दे सकते हैः—यह अमुक-अमुक (अन्य सभी) स्वनिमों से भिन्न और अनेक स्थितियों में इनसे व्यतिरेक दिखाने वाला स्वनिम है। अर्थात् हिन्दी /क्/ स्वनिम का परिचय हम इस प्रकार दे सकते हैः— यह /ख्/ नहीं है, /ग्/ नहीं है,........आदि।

इसके विपरीत ध्वनि या स्वन एक भौतिक घटना है। उसका विवरण हम भाषा को जाने बिना दे सकते हैं। किसी अज्ञात-भाषा-भाषी से [क्] ध्वनि मात्र सुनकर हम इसका पूर्ण स्वनिक वर्णन कर सकते हैं। हम कह सकते है कि यह एक स्पर्श ध्वनि है जिसके उच्चारण में जिह्वापश्च का अगला भाग उत्कंठ के अगले भाग के सम्पर्क में आता है, आदि।

२१·९ स्वनिम के अनेक संस्वनों में से एक को **मानक** मान लेते है और उसे स्वनिम के रूप में लिखते है। अन्य संस्वन उस मानक के **विभेद** माने जाते है। सामान्यतः मानक का पद उस संस्वन को मिलता है जो अधिक परिवेशों में आता है। सारे सस्वनों का वितरण अधिकाधिक सरल ढंग से बताया जा सके या सरलता से लिखा जा सके, यह मानदंड भी मानक के निर्धारण मे साथ रहता है। उदाहरणार्थ, यदि अँगरेजी में [क्] और [ख्] ध्वनियाँ एक ही स्वनिम के अन्तर्गत आती हों तो इनमें /क्/ मानक मानकर स्वनिम के रूप में लिखी जाती है, जिसके दो संस्वन [क्] और [ख्] होंगे।

२२. स्वनिमों के निर्धारण में लघुतम युग्मों की खोज अधिक उपयोगी होती है क्योंकि इनके द्वारा दो ध्वनियों का भिन्न-भिन्न स्वनिम होना निर्विवाद रूप से

सिद्ध हो जाता है। स्वनिमो की खोज के लिए हमें शब्दों की समस्त स्थितियों की परीक्षा करनी चाहिए क्योंकि कुछ स्वनिम ऐसे भी होते है जो आद्य, मध्य और अन्त्य स्थितियो मे से सब में न आकर कुछ ही स्थितियो मे व्यवहृत होते है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित तालिका मे आद्य स्थिति के व्यतिरेक मिलते है :—

काल	खाल	गाल	घाल[1]	
चाल	छाल	जाल	झाल[2]	
टाल	ठाल[3]	डाल	ढाल	
ताल	थाल	दाल	—	नाल
पाल	—	बाल	भाल	माल
—	राल	लाल	वाल[4]	शाल
	साल	हाल		

इस तालिका के आधार पर /क्/, /ख्/, /ग्/, /घ्/, /च्/, /छ्/, /ज्/, /झ्/, /ट्/, /ठ्/, /ड्/, /ढ्/, /त्/, /थ्/, /द्/, /न्/, /प्/, /ब्/, /भ्/, /म्/, /र्/, /ल्/, /व्/, /श्/, /स्/, /ह्/ व्यजन स्वनिम निश्चित हो जाते हैं।

२२ १ आद्य व्यतिरेको की एक और तालिका ले :—

कार	खार	—	—	
चार	छार[5]	—	झार[6]	
—	—	—	ढार[7]	
तार	—	दार[8]	धार	—
पार	फार[9]	बार	भार	मार
यार	रार	लार	वार	—
	सार	हार		

---

१. उदा० घर घालना।
२. झाबा।
३. उदा० बैठे-ठाले।
४. वाल्व ट्यूब।
५. क्षार।
६. उदा० तेल की झार।
७. ढारना।
८. उदा० मालदार।
९. हल में लगने वाला लोहे का औजार।

इस तालिका के आधार पर हमे उपर्युक्त व्यजन स्वनिमों के अतिरिक्त /ध्/ , /फ्/ और /य्/ तीन नये व्यंजन स्वनिम[1] मिलते है ।

२२·२ अब द्विस्वरान्तर्गत व्यतिरेकों की एक तालिका ले :—

गुणा[2]	गुदा	गुना[3]
गुफा	गुमा	गुहा

यह तालिका चूँकि ऊपर की शब्द-स्थिति से भिन्न स्थिति के व्यतिरेक प्रस्तुत करती है, इसलिए हमें यहाँ एक सतर्कता बरतनी होगी । इसमें जो ध्वनियाँ प्राप्त हुई है, उनमें परस्पर व्यतिरेक अवश्य है[4]; किन्तु ये सारी ध्वनियाँ स्वनिम नहीं घोषित कर दी जायँगी । यदि इनमे कुछ व्यतिरेक ऐसे है जो हमे आद्य स्थिति में भी मिल चुके है तो हमे उनके बारे मे कोई विचार करने की आवश्यकता नही है । किन्तु यदि इनमें कोई ध्वनि ऐसी है जो आद्य स्थिति मे नहीं आई थी तो हमें उस पर और विचार करना होगा । इस तालिका में [ण्] एक ऐसी ही ध्वनि है । इसके स्वानिमिक स्तर के सम्बन्ध में दो सभावनाएँ हो सकती है । या तो यह किसी स्वनिम का सस्वन है । इस सभावना की जाँच के लिए हमें यह खोजना होगा कि [ण्] से मिलते-जुलते (स्थान-प्रयत्न-साम्य वाले) स्वनिम कौन-से है और उनका परिवेशगत वितरण क्या है । दूसरी सभावना यह हो सकती है कि यह स्वतंत्र स्वनिम हो । पहली सभावना को असत्य सिद्ध करने से ही हमारी दूसरी संभावना सत्य सिद्ध हो सकती है ।

[ण्] से मिलते-जुलते जो स्वनिम अभी तक हमें प्राप्त हुए हैं, उनमें प्रयत्न-साम्य वाले /न्/ और /म्/ से उसका व्यतिरेक उपर्युक्त तालिका में ही विद्यमान है । स्थान-साम्य वाले स्वनिम /ट्/, /ठ्/, /ड्/ और /ढ्/ है । यदि [ण्] सस्वन हो सकता है तो इन्ही में से किसी स्वनिम का हो सकता है । गुण-गुट; गणना-गठना से पहले दो

---

१. वास्तव में इन्हें स्वनिम मानने के पूर्व कुछ बातों पर विचार करना पड़ता है । दूसरी तालिका का परिवेश पहली तालिका से भिन्न है क्योंकि पहली तालिका का अन्तिम व्यंजन /ल्/ है जब कि दूसरी का /र्/ है । हमें यह देखना पड़ता है कि कहीं यह पूरक बंटन के कारण न हो । इस सभावना को असत्य सिद्ध करके ही हम इन तीनों ध्वनियों को पृथक्-पृथक् स्वनिम मान सकते हैं । इसके लिए हमें यह सिद्ध करना होगा कि ये तीनों ध्वनियाँ ऐसे शब्दों में भी आती हैं जिनके अन्त में /ल्/ होता है । धूल, फूल और पयाल शब्द इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त है ।

२. उदाहरणार्थ, चार का चार से **गुणा** करो ।

३. उदाहरणार्थ, गुणनफल चार का चार **गुना** होगा ।

४. गुफा और गुहा में व्यतिरेक भी नहीं है क्योंकि इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है । यह मुक्त विभेद का उदाहरण है । किन्तु पहली तालिका से /फ्/ और /ह्/ स्वतंत्र स्वनिम सिद्ध हो चुके है ।

इकाई भी भाषा में होनी चाहिए। अर्थ प्रकट कर सकने वाले लघुतम स्वनिम-समूह को हम **मर्ष** कहेंगे।

२४. 'सुन्दरता' शब्द में /स् उ न् द् अ र् त् आ/ स्वनिम है और 'सुन्दरता' शब्द का कुछ अर्थ है। हमें यह देखना है कि यह सारा अनुक्रम अखंड रूप में ही कोई अर्थ दे सकता है अथवा इस अनुक्रम के कुछ ऐसे खंड किये जा सकते है जिनमे अर्थ विद्यमान हो और इसी अर्थ का संयोग उक्त शब्द मे स्थित हो। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द के अधिक-से-अधिक दो सार्थक खंड किये जा सकते हैं—'सुन्दर' और 'ता' तथा इन दोनो का अलग-अलग जो अर्थ होता है, वही सम्मिलित रूप से 'सुन्दरता' में प्राप्त होता है। अतएव 'सुन्दर' तथा 'ता' दो मर्ष है। 'असुन्दरता' मे इसी प्रकार तीन मर्ष है—अ, सुन्दर और ता।

२५. (क) मंत्री महोदय को चार हार पहनाये गये।

(ख) शत्रु ने अन्ततः हार स्वीकार कर ली।

इन दो वाक्यो मे से यदि हम /ह् आ र्/ स्वनिमानुक्रम ले और इस पर विचार करे तो हमें पता चलेगा कि सार्थक रखते हुए इसके और खंड करना संभव नही है। किन्तु जहाँ तक अर्थ का संबंध है, इस स्वनिम-समूह का अर्थ दोनों वाक्यो मे भिन्न-भिन्न है। पहले वाक्य में इसका अर्थ है—'माला' और दूसरे मे इसका अर्थ है—'पराजय'। इन दोनो अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है। चूँकि यह अनुक्रम दोनो स्थानो पर दो विभिन्न अर्थ देता है, इसलिए हम इसे दो इकाइयों के रूप में स्वीकार करते है। एक ही आकृति होने के बावजूद हम एक /हार्/ को दूसरे /हार्/ से भिन्न एक स्वतन्त्र मर्ष मानते है। भिन्न-भिन्न अर्थ देने वाले एक ही आकृति के रूपो को **एकाभिध** कहा जाता है।

२६. 'करना' और 'करता' मे प्राप्त होने वाले स्वनिमानुक्रम /कर्/ का एक ही अर्थ है और इस अनुक्रम के सार्थक खंड नही किये जा सकते, इसलिए /कर्/ एक मर्ष है। 'किया' में /कि/ का अर्थ भी वही है लेकिन यह दूसरा स्वनिमानुक्रम है, इसलिए यह एक दूसरा मर्ष है (क्योंकि इसके भी सार्थक खंड नहीं किये जा सकते)।

२७. मर्ष में वर्णों की संख्या, उनमें बल अथवा तान की स्थिति और स्थान, स्वर-व्यंजन का क्रम और उनकी संख्या आदि बातों के आधार पर विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार से मर्षों की स्वानिमिक आकृति का सामान्यीकरण किया जा सकता है अर्थात् अनेक मर्षों की आकृति को एक सामान्य रूप की भाँति देखा जा सकता है। इस प्रकार के रूपों को हम **आप्त रूप** कह सकते हैं।

आप्त रूपों की खोज किसी भाषा में इस दृष्टि से उपयोगी होती है कि हम इसके द्वारा यह जान सकते हैं कि उस भाषा मे किन-किन निश्चित आप्त रूपों वाले मर्ष प्रयुक्त होते हैं तथा उनमें किन-किन निश्चित आप्त रूपों की अधिकता है।

हिन्दी मे स्वर-व्यंजन के आधार पर आप्त रूपो का विश्लेषण उपयोगी है। उसमें मिलने वाले कुछ आप्त रूप निम्नलिखित है, जिनमे व्यंजन के लिए ह् (हल्) और स्वर के लिए अ (अच्) का प्रयोग हुआ है।

आप्त रूप	मर्ष
अ	आ, ए, ओ
ह्	न्, त्, ग्§
ह् अ	खा, ले, पी
अ ह्	आन, ईख, ऊन
ह् अ ह्	कह, हँस, सुन
अ ह् अ	इला, इडा, उमा
ह् ह् अ	प्र, स्व, श्री
ह् ह् अ ह्	गृह, स्वन, प्रण
ह् अ ह् ह्	यज्ञ, वत्स, लग्न
अ ह् अ ह्	आकाश, आराम, ईमान
ह् अ ह् ह् अ	मछली, तकली, सुतली
ह् ह् अ ह् ह्	स्वप्न, भृत्य, कृष्ण
अ ह् ह् ह्	अर्घ्य
ह् अ ह् ह् ह्	बर्स्व
अ ह् ह् ह् अ	ईर्ष्या
ह् अ ह् अ ह्	कुसुम, परम, कमल
ह् ह् अ ह् अ ह्	कृपण, वृषभ,

२८. जब एकाधिक मर्ष एक-दूसरे से संयोजित करके रखे जाते हैं, तब उनकी आकृति में कुछ परिवर्तन आ सकता है। इस प्रकार हुए परिवर्त्तनों को **मर्ष-स्वानिमिक परिवर्त्तन** कहते है। एक ही मर्ष की आकृति मे काल-क्रम से जो परिवर्तन आ जाता है, उसे भी मर्षस्वानिमिक परिवर्तन कहा जाता है। मर्षस्वानिमिक परिवर्त्तनो मे इस प्रकार ऐसे परिवर्त्तन सम्मिलित है जो ऐतिहासिक हैं और वे भी सम्मिलित है जो परिवेश-वश हो जाते हैं। कुछ परिवर्तन लिखित रूप से स्वीकार कर लिये गये हैं; कुछ परिवर्त्तन केवल उच्चरित भाषा मे मिलते है, लिखित रूप में नही आते। कभी-कभी एक ही अविकल्प रूप मिलता है, कभी-कभी विकल्प भी प्राप्त होते है।

---

§करना=कर्+न्+आ करने=कर्+न्+ए
करता=कर्+त+आ करते=कर्+त्+ए
होगा =हो+ग्+आ होगी=हो +ग्+ई

नीचे कुछ मुख्य-मुख्य सर्षस्वानिमिक परिवर्त्तनों का उल्लेख किया जायगा।

२६　कभी-कभी एक स्वनिम दूसरे स्वनिम के उच्चारण स्थान अथवा/और प्रयत्न को अपने समान बना लेता है। यह समानता पूर्ण अथवा आंशिक हो सकती है। इस परिवर्त्तन को **संरूपण** कहा जाता है। यदि परवर्त्ती स्वनिम प्रभाव डालता है और पूर्ववर्त्ती स्वनिम का रूप बदलता हे तो उसे **पूर्वरूपण** कहा जाता है। इसके विपरीत यदि पूर्ववर्त्ती स्वनिम प्रभाव डालता है और परवर्त्ती स्वनिम का रूप बदलता है तो उसे **पररूपण** कहते हैं। यदि प्रभाव डालने वाले और प्रभावित होने वाले स्वनिम पास-पास होते हैं, उनके बीच में और कोई स्वनिम नहीं होते तो इस प्रकार हुआ संरूपण **संसक्त** संरूपण कहा जाता है। इसके विपरीत यदि उक्त दोनों स्वनिमों के बीच और कोई स्वनिम विद्यमान रहता है तो इस प्रकार होने वाला संरूपण **असंसक्त** होता है।

२६·१ संसक्त पूर्वरूपण :—

धर्म	>	धम्म
शर्करा	>	शक्कर
डाकघर	>	डाग्घर
आधसेर	>	आस्सेर
सबका	>	सप्का
आग की	>	आक्की
लब सी लेंगे	>	लप्सी लेंगे

२६·२ असंसक्त पूर्वरूपण :—

*पे्न्क्वे	>	क्विन्क्वे (लैटिन)
*इक्षु	>	उक्खु
*अँगुली	>	उँगुली

२६·३ संसक्त पररूपण :—

चुम्बन	>	चुम्मा
अम्बा	>	अम्मा
पक्व	>	पक्का
चक्र	>	चक्क (>चाक)
चुनरी	>	चुन्नी
कम्बल	>	कम्मरु (अवधी)
लम्बा	>	लम्मा (भोजपुरी)
जल्दी	>	जल्ली§

---

§यह उच्चारण डॉ० रविशंकर दीक्षित का है।

२९·४ असंसक्त पररूपण :—

*रामेन	>	रामेण
*पुष्पानि	>	पुष्पाणि
नौबत	>	नौमति (बैसवाडी)

२९·५ यदि दो स्वनिम एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए समाप्त हो जायें और एक तीसरे ही स्वनिम को जन्म दे दें जिसमे उन दोनो के थोड़े-थोड़े लक्षण मौजूद हों, तो इस प्रकार के सरूपण को **संरोहण** कहा जाता है। अँगरेजी का 'पिक्चर' शब्द इसका उदाहरण है जिसका उच्चारण पहले कभी वर्त्तनी के अनुसार अवश्य ही 'पिक्त्यूर' रहा होगा। 'डोण्ट यू' का उच्चारण 'डोञ्चू' भी इसका उदाहरण है।

३०. यदि दो मिलते-जुलते स्वनिमो मे से एक अपेक्षाकृत भिन्न हो जाता है तो इस प्रकार के परिवर्तन को **विरूपण** कहते है। उदाहरणार्थ :—

*भ॑न्ध्	>	बन्ध् (संस्कृत)
*थ्रिख्स	>	थ्रिक्स (ग्रीक)
*थ्रिखूोस	>	त्रिखूोस (,,)
लांगल (संस्कृत)	>	नांगल (प्राकृत)
मार्बु॑र (मध्य इंग्लिश)	>	मार्बु॑ल (इंग्लिश)
पेरेग्रीनस (लैटिन)	>	पेलेग्रिनो (इटैलियन)
सप्तमी	>	सत्तिमी§
लिटल	>	लिटर
प्रसन्न	>	परसन्द (बैसवाड़ी)

३१. कभी-कभी किसी मर्ष के दो स्वनिमो का स्थान बदल जाता है। इस परिवर्त्तन को **विपर्यय** कहा जाता है। उदाहरणार्थ :—

डूब	>	बूड
गृह	>	घर
अम्लिका	>	इमली
चिह्न	>	चिन्ह
अँगुली	>	उँगली
सिग्नल	>	सिगल
लखनऊ	>	नखलऊ
हनाबु	>	नहाबु
गरदा	>	रगदा*
बीमार	>	बेराम

मर्षविज्ञान

३२. सामान्यतः व्याकरण के दो अंग होते है :—१ मर्षविज्ञान और २.

---

§ स्वर-परिवर्तन से अभिप्राय है।

वाक्यविज्ञान । भाषा की व्याकरणिक उपव्यवस्था का परिचय इन्हीं दो शीर्षकों के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् दिया जायगा । मोटे तौर पर, **मर्षविज्ञान** मे शब्दों के गठन का अर्थात् उनके संघटक तत्त्वो का विवेचन किया जाता है । व्याकरण के दूसरे अग **वाक्यविज्ञान** में शब्दों के व्यवहार का अर्थात् वाक्यों-वाक्यांशो के सघटक तत्त्वों का विवेचन होता है । पहले हम मर्षविज्ञान पर विचार करेंगे । किसी भाषा के मर्ष-विज्ञान और उसकी मर्षस्वानिमी के अनुसन्धान और निर्धारण की प्रक्रिया **मार्षिमी** कहलाती है ।

३३. जिस प्रकार स्वानिमी की आधारभूत इकाई स्वनिम है, उसी प्रकार मर्षविज्ञान की आधारभूत इकाई मर्षिम है । जिस प्रकार स्वनिम कुछ स्वनों का भावानयन होता है, उसी प्रकार मर्षिम कुछ मर्षो का भावानयन होता है । जिस प्रकार स्वय कोई स्वन न होते हुए भी प्रत्येक स्वनिम को किसी-न-किसी स्वन के रूप मे ही प्रकट होना पड़ता है, उसी प्रकार स्वयं कोई मर्ष न होते हुए भी प्रत्येक मर्षिम को किसी-न-किसी मर्ष के रूप मे ही प्रकट होना पडता है । मर्षस्वानिमी का विचार करते समय हमने कुछ इस प्रकार की धारणा बन जाने का अवसर दिया है जैसे कि शब्द की रचना मर्षों से ही हो जाती हो । वास्तव मे यह धारणा यथार्थ नहीं है । कार्यकारिता की दृष्टि से मर्षिम मर्षो की अपेक्षा उसी प्रकार अधिक यथार्थ है जिस प्रकार स्वनों की अपेक्षा स्वनिम । विभिन्न शब्दों को ग्रहण करते समय हमारा ध्यान उनके मर्षिमो की ओर रहता है । **मर्षिम** लघुतम अर्थयुक्त इकाई है; किन्तु वह अर्थ की इकाई नहीं है । उसका संबंध भाषा के रूप-पक्ष से भी है और अर्थ-पक्ष से भी । इस परिभाषा मे यह बात ध्यान देने की है कि हमने मर्षिम को 'इकाई' भर कह दिया है, उस 'इकाई' का स्वरूप नही स्पष्ट किया । हमने उसे स्वनिम-समूह आदि भी नही कहा है । यह आवश्यक और साभिप्राय है ।

३४. निम्नलिखित सारणी पर विचार करिए :—

करना	किया	कीजिए, करिए
लेना	लिया	लीजिए
देना	दिया	दीजिए
पीना	पिया	पीजिए
होना	हुआ	हूजिए, होइए

इस सारणी के तीनों स्तंभों के मर्षों का विश्लेषण इस प्रकार होगा :—

कर्—न्—आ	कि—या	की—जिए, कर्—इए
ले—न्—आ	लि—या	ली—जिए
दे—न्—आ	दि—या	दी—जिए
पी—न्—आ	पि—या	पी—जिए
हो—न्—आ	हु—वा	हू—जिए, हो—इए

यदि प्रत्येक शब्द का पहला मर्ष ले, तो कुल मर्ष चौदह होगे :—

एक.	१) कर्	२) कि	३) की,—
दो	४) ले	५) लि	६) ली
तीन.	७) दे	८) दि	९) दी
चार.	१०) पी	११) पि	—
पाँच.	१२) हो	१३) हु	१४) हू,—

लेकिन जैसा कि स्पष्ट है, प्रत्येक पक्ति के मर्ष कार्यकारिता की दृष्टि से परस्पर भिन्न नही है, वे एक ही इकाई के रूप मे कार्य करते है। प्रत्येक हिन्दीभाषी पहली पंक्ति के पहले तीनों मर्षों को एक ही इकाई के विभिन्न रूप समझता है। इसी प्रकार दूसरी पक्ति के तीनो मर्ष एक ही इकाई के विविध रूप समझे जाते है। तीसरी, चौथी और पाँचवीं पक्तियो की स्थिति भी यही है। जब हम किन्ही मर्षो के लिए कहते है कि ये एक ही इकाई के विविध रूप है तब हम जिस 'इकाई' का उल्लेख करते है, वह मर्षिम होता है। इस प्रकार इन पाँच पक्तियों से हमें पाँच मर्षिम प्राप्त होते है। मर्षिमो को { } के बीच लिखने की परम्परा है। चूँकि मर्षिम सदैव किसी मर्ष के रूप मे प्रकट होता है, इसलिए सबधित मर्षो मे से किसी एक को **आधार रूप** मान लिया जाता है और मर्षिम का द्योतन करने के लिए उसे ही लिखा जाता है। अन्य मर्ष उस आधार रूप के **विभेद** कहे जाते है। उपर्युक्त पाँच मर्षिम निम्न-लिखित है :—

एक.	{कर्}
दो.	{ले}
तीन.	{दे}
चार.	{पी}
पाँच.	{हो}

३४१ जितने मर्ष किसी मर्षिम के सदस्य होते हैं, वे उस मर्षिम के **संमर्ष** कहे जाते हैं। उपर्युक्त मर्षिमो के सारे समर्ष ऐच्छिक रूप से प्रत्येक परिवेश मे आ सकने के लिए स्वतंत्र नही हैं। उदाहरणार्थ, दूसरे स्तभ मे मिलने वाले संमर्षों का प्रयोग पहले और तीसरे स्तंभो के समर्षों के स्थान पर किया जाय तो हमें निम्न-लिखित रूपो के लिए तैयार रहना चाहिए :—

*किना	*किजिए
*लिना	*लिजिए
*दिना	*दिजिए
*पिना	*पिजिए
*हुना	*हुजिए

लेकिन ये रूप हमारी भाषा मे प्राप्त नही होते और न हम इन्हें स्वीकार करने के लिए तैयार होगे। /-ना/के पहले हमे/कर्-/, /ले-/, /दे-/, /पी-/ और /हो-/ संमर्पों का ही प्रयोग करना पड़ेगा। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे स्तभो मे भी निश्चित समर्षों का ही प्रयोग सभव है। किसी मर्पिम के समर्षों का इस प्रकार का वितरण कि जिस परिवेश में एक संमर्प आए, उसमे कोई दूसरा न आ सके, **पूरक बंटन** कहलाता है। उपर्युक्त उदाहरण पूरक बटन के है।

हिन्दी में /लड़क् -/ और /लड़्क्/मर्ष एक ही मर्पिम के समर्प है। यदि इस मर्पिम के बाद कोई ऐसा मर्ष आए जिसका आद्य स्वनिम व्यजन हो तो पहले संमर्प का प्रयोग होता है। दूसरा समर्ष ऐसे मर्प के पहले प्रयुक्त होता है जिसका आद्य स्वनिम स्वर हो। इन दोनो के वितरण मे परिवेश का अन्तर रहता है, अतएव यह भी पूरक बंटन का उदाहरण है।

अंगरेजी में निम्नलिखित सारणी लीजिए:—

स्टिक्स	बैग्ज	किसे़ज़	
बैट्स	किड्ज	इचे़ज़	
लिप्स	निब्ज	बैजे़ज	ऑक्सन

इन शब्दों में दो-दो मर्प हैं। सभी शब्दो के अन्त मे मिलने वाले मर्प एक ही मर्पिम के संमर्ष है और वह मर्षिम बहुवचन का है, जिसे हम चाहे तो { -ज् } के रूप में लिख सकते है। इसके विभिन्न समर्प और केवल उपर्युक्त शब्दो के आधार पर उन संमर्षों का वितरण इस प्रकार है:—

/-स्/ अघोष व्यजनो के बाद।
/-ज्/ सघोष व्यंजनो के बाद।
/-ए़ज/ संघर्पियो तथा स्पधर्पों के बाद।
/-अन्/ 'ऑक्स' शब्द के बाद।

इस भाँति इनके वितरण मे परिवेश-भेद विद्यमान रहता है, इसलिए यह भी पूरक बटन का उदाहरण है।

३४·२ ऊपर दी हुई पहली सारणी के तीसरे स्तंभ में दो रूप ऐसे है जिनमें विकल्प संभव है। ये है 'कीजिए—करिए'§ और 'हूजिए—होइए'§। इनसे यह पता चलता है कि { -इए } मर्षिम के पहले { कर् } और { हो } के दो-दो संमर्ष

---

§यहाँ यह मान लिया गया है कि इन युग्मों में परस्पर अर्थ-भेद नही है। वैसे, मुझे इनमें कुछ भेद अनुभव होता है। मुझे पहले रूप अधिक सम्मानप्रद प्रतीत होते है। यदि इनमें थोड़ा सा अर्थ-भेद मान लिया जाय तो इसके समाधान के दो विकल्प है। उनमे से एक यही है कि ये संमर्ष ही है और नाइडा के शब्दों मे 'संमर्पों तक में अर्थ-भेद के उदाहरण मिलते है।'

स्वेच्छानुसार वैकल्पिक रूप से आ सकते है। { -इए } के दो समर्ष /-इए/ और /-जिए/ अपने पूर्ववर्त्ती समर्ष के अनुसार प्रयुक्त होते है। इसे यो भी कह सकते है कि { -इए } के दो समर्षो के प्रयोग के अनुसार पूर्ववर्ती मर्षिम के संमर्षो का चुनाव होता है। दो मर्षिमो में से किसी के किसी एक समर्ष का चुनाव हो जाने से यह तय हो जाता है कि दूसरे मर्षिम का कौन-सा समर्ष प्रयुक्त होगा।

{ कर् } और { -इए } मर्षिमो मे से यदि { कर् } का /की-/ समर्ष चुन लिया जाय तो { -इए } का /-जिए/ संमर्ष प्रयुक्त होगा अथवा { -इए } का /-जिए/ समर्ष चुन लिया जाय तो { कर् } का /की-/ समर्ष ही व्यवहृत होगा। इसी प्रकार { हो } और { -इए } के सयोग मे यदि /हू-/ समर्ष चुना जाय तो /-जिए/ समर्ष लेना पड़ेगा अथवा /-जिए /समर्ष चुन लिया जाय तो /हू-/ समर्ष का व्यवहार करना पडेगा।

इसी तरह /कर्-/ का चुनाव करने से /-इए/ अथवा /-इए/ का चुनाव करने से /कर्-/ आवश्यक हो जाता है। /हो-/ का चुनाव करने से /-इए / अथवा /-इए/ का चुनाव करने से /हो-/ आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार किसी मर्षिम का एक समर्ष चुन लेने पर दूसरे मर्षिम का कौन-सा समर्ष प्रयुक्त होगा यह तो निश्चित हो जाता है; किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, एक मर्षिम के सयोग मे दूसरा मर्षिम कौन-सा संमर्ष प्रयुक्त करे—यह पूर्णत: ऐच्छिक होता है। { -इए } मर्षिम के सयोग मे आने पर { कर् } के दो समर्षो मे से किसी का भी प्रयोग किया जाता है। { -इए } के संयोग मे { हो } के दो समर्षो मे से किसी का भी व्यवहार संभव है। दूसरी ओर से कहे तो { कर् } और { हो } के सयोग मे { -इए } के दो संमर्षो मे से किसी का भी प्रयोग सभव है। इस प्रकार, किसी मर्षिम के संमर्षो का इस प्रकार का वितरण कि जिस परिवेश मे एक संमर्ष आता हो, उसमे दूसरा भी आ सकता हो, **मुक्त विभेद** कहलाता है। उपर्युक्त उदाहरण मुक्त विभेद के है। हिन्दी में 'किन्तु, परन्तु, पर, लेकिन, मगर' सामान्यत:§ मुक्त विभेद के उदाहरण है।†

३४·३ यदि एक व्यक्ति सदैव एक समर्ष का प्रयोग करता हो और दूसरा उसके स्थान पर सदैव दूसरे संमर्ष का प्रयोग करता हो तो यह मुक्त विभेद **द्विमर्ष** का उदाहरण है। हिन्दी मे 'प्रकट-प्रगट', 'ठंडक-ठढक', 'बंटाढार-बंटाधार' और अँगरेजी में 'डिरे्क्ट-डाइरेक्ट' तथा 'क्लैस-क्लास' आदि द्वैमर्षिक मुक्त विभेद के उदाहरण हैं।

---

§किसी-किसी प्रसग में पूरक बंटन होता है। उदा० 'मुझसे अगर मगर न करो!' में 'मगर' ही आ सकता है। शैली-भेद में भी इनका चयन सहायक होता है। इनमें कई द्वैमर्षिक मुक्त विभेद के उदाहरण हो सकते है।

†सामान्यत: इन्हे पर्याय कहा जाता है।

३५. शब्द मे किसी मर्षिम का क्या स्तर है और वाक्य-व्यवहार की दृष्टि से उसकी क्या स्थिति है, इस प्रकार की बातों का विचार **मर्षिम-बंटन** के नाम से किया जा सकता है।

३५·१ इस दृष्टि से एक उपयोगी वर्गीकरण है—धातु, प्रातिपदिक और प्रत्यय का। किसी शब्द का मूल अर्थवाही तत्त्व **धातु** कहलाता है। उदा० हिन्दी में सुन्दर, देव, पडित आदि तथा अँगरेजी में बर्ड, लाइट, ईट आदि। धातु, धातु-समूह अथवा धातु-प्रत्यय के ऐसे अनुक्रम को **प्रातिपदिक** कहा जाता है जिसमे प्रत्ययों का योग होना हो। उदा० सुन्दर (सुन्दर-ता), देव (देव-त्व), पडित (पंडित-आई) ब्लैकबर्ड (ब्लैकबर्ड-ज), एन्लाइटे़न (एन्लाइट़ेन-ड), ईट (ईट-अर) आदि। इनमें जुड़ने वाले गौण तत्त्व **प्रत्यय** कहे जाते हैं। शब्द में अपने स्थान के अनुसार प्रत्यय तीन प्रकार के होते हैं :—

धातु के पहले जुड़ने वाले प्रत्ययों को हम **पूर्वप्रत्यय** कहेंगे, जिनके लिए सामान्यतः उपसर्ग शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदा० सु- (सुबोध), कु- (कुमति), प्र- (प्रख्यात), अभि- (अभिभाषण), उत्- (उत्क्षेप), अप- (अपसरण) आदि। अँगरेजी में प्री- (प्रीफ़िक्स) एन्- (एनरिच) आदि। धातु के अन्त में जुड़ने वाले प्रत्ययो को हम **परप्रत्यय** कहेंगे। उदा० -ता (सुन्दरता), -त्व (देवत्व), -आई (पंडिताई) आदि। अँगरेजी मे -ने़स (काइण्डने़स), -डम (विज्डम), -शिप (लार्डशिप) आदि। धातु के मध्य मे जुडने वाले प्रत्ययों को **अन्तर्प्रत्यय** कहा आता है। उदा० कोर्कू मे -प्- जो 'परस्पर' या 'बहुवचन' का अर्थ देता है। उदाहरणार्थ:—

गोज्—'मारना' गोपोज—'एक-दूसरे को मारना'
खाड—'बडा' 'खापे़ड'—'बड़े'

३५·२ वाक्य-व्यवहार की क्षमता के आधार पर मर्षिमों अथवा मर्षिमानुक्रमो को मुक्त तथा बद्ध दो वर्गो में रक्खा जा सकता है। **मुक्त रूप** और किसी मर्षिम से सयुक्त हुए बिना वाक्य में या वाक्य के रूप में प्रयुक्त हो सकने में समर्थ होते है। उदा० सुन्दर, लघु, आज, सब। अँगरेजी में ऐक्ट, क्लॉक, निब, टाइम आदि। **बद्ध रूप** और किसी मर्षिम से सयुक्त हुए बिना नही व्यवहृत हो सकते। उदा० —ता, —त्व, —आई, सु—, कु—, अभि— तथा अँगरेजी मे प्री—, —ने़स, —डम, —शिप आदि।

३६. प्रातिपदिको मे जुड़ने वाले प्रत्ययों के आधार पर तथा/अथवा वाक्य में उनके व्यवहार के आधार पर प्रत्येक भाषा में प्रातिपदिकों के कुछ वर्ग बनाये जा सकते हैं जिन्हें हम **वाग्भाग** कहेंगे। वाग्भागों के लिए वैकल्पिक रूप से प्रयुक्त होने वाला शब्द है—**सर्ववैज्ञानिक कोटियाँ**। एक वाग्भाग के अन्तर्गत आने वाले प्रातिपदिक गठन और/या व्यवहार की दृष्टि से बहुत-कुछ मिलते-जुलते होते हैं। नीचे

कुछ बहुप्रचलित वाग्भागों का परिचय दिया जायगा। प्रातिपदिकों के स्थान पर हम पूरे शब्दों का उल्लेख करेंगे, क्योंकि इससे निष्कर्षों मे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

३६·१ हिन्दी में बहुत से प्रातिपदिक निम्नलिखित सरणियों मे आते है :—

(क)

लडका	लड़के	लड़कों	लड़को
घोड़ा	घोड़े	घोड़ो	घोड़ो
बन्दर	बन्दर	बन्दरो	बन्दरो
साथी	साथी	साथियो	साथियो

(ख)

लड़की	लडकियाँ	लड़कियो	लडकियो
नदी	नदियाँ	नदियों	नदियो
किताब	किताबें	किताबो	किताबो
लता	लताएँ	लताओ	लताओ

इस प्रकार की सरणियों वाले वाग्भाग को **संज्ञा** कहा जाता है।

३६·२ निम्नलिखित रूपों का भेद पहले वाले रूपो से द्रष्टव्य है, यद्यपि इनमें परस्पर कुछ साम्य भी है।

मै	मुझ	मे	हम	हमा
तू	तुझ	ते	तुम	तुम्हा
वह	उस	उस	वे, उन	उन

ये रूप जिस कोटि के अन्तर्गत आते है, उसे **सर्वनाम** कहा जाता है। व्यवहार की दृष्टि से भी इसमें सज्ञा से भेद है। संज्ञापदों के पूर्व विशेषणो का प्रयोग होता है, सर्वनामों के पूर्व नही।

३६·३ कुछ प्रातिपदिकों की सरणियाँ इस प्रकार की बनती है :—

(क)

अच्छा	अच्छे	अच्छी
काला	काले	काली
थोड़ा	थोड़े	थोड़ी

(ख)

सुन्दर

बढ़िया

स्वादिष्ठ

इन दोनों समूहों में सरणियों की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से इनमे साम्य है। उदाहरणार्थ:—

अच्छा/काला/थोड़ा/सुन्दर/बढ़िया/स्वादिष्ठ गुड़ ।
अच्छे/काले/थोड़े/सुन्दर/बढ़िया/स्वादिष्ठ पेड़े ।
अच्छी/काली/थोड़ी/सुन्दर/बढ़िया/स्वादिष्ठ बरफी ।

इस वाग्भाग के लिए **विशेषण** शब्द का प्रयोग होता है ।

३६·४ **क्रियाविशेषण** नामक वाग्भाग में आने वाले शब्दो के गठन मे प्राय: एक ही साम्य मिलता है और वह यह कि उनकी सरणियाँ नही चलती और ये शब्द अधिकतर अव्यय होते है । व्यवहार-साम्य इनके वर्गबद्ध होने का आधार है। उदाहरणार्थ :—

राम (यहाँ) आया था ।
(कब)
(क्यो)
(नही)
(ऊपर)

३६.५ **परसर्ग** भी एक इस प्रकार का वाग्भाग है जिसमें गठन के स्थान पर व्यवहार से अधिक सहायता मिलती है । परसर्गो की सरणियाँ नही-सी होती हैं; क्योंकि अधिकाश परसर्ग भी अव्यय होते है । हिन्दी के परसर्गो मे पर्याप्त वैविध्य मिलता है, किन्तु उनका एक सामान्य लक्षण है मुख्य अर्थवाही शब्दों (सज्ञा, सर्वनाम) के बाद आना और उन पर आश्रित होना । उदा० में, को, पर, से, ओर ।

३६.६ **संयोजक** नामक वाग्भाग के अन्तर्गत आने वाले शब्द भी अव्यय होते है । ये दो वाक्यो, वाक्याशों या शब्दों के बीच मे आकर उन्हे संबद्ध करते है । उदा० और, तथा, किन्तु, मगर, ताकि, कि ।

३६·७ **आवेगी** वाग्भाग में मनोभावाभिव्यजक अव्यय आते है जो व्यवहार की दृष्टि से वाक्य में सम्मिलित नही होते, उससे अलग रहते है अथवा वाक्य के स्थान पर स्वत: अकेले प्रयुक्त होते है । उदा० अहा !, अरे !, छि. !

३७. कई वाग्भागों के अन्तर्गत आने वाले प्रातिपदिका को प्रयोग का व्याकरणिक सामर्थ्य अर्जित करने के लिए कुछ वर्गबद्ध बंधन स्वीकार करने पड़ते है। ये बंधन **व्याकरणिक कोटियाँ** है । प्रत्येक भाषा में व्याकरणिक कोटियाँ होती हैं और अन्य भाषाओं की तुलना में थोड़ी-बहुत भिन्न भी होती हैं । संसार की सारी भाषाओं को ले तो उनकी व्याकरणिक कोटियो में बड़ी विविधता मिलती है । हिन्दीभाषियों की कुछ सुविदित व्याकरणिक कोटियों का परिचय यहाँ दिया जायगा ।

३७·१ **लिंग** नामक व्याकरणिक कोटि संज्ञाओं में बहुत व्यापक रूप से पाई जाती है । लिंग से तात्पर्य यहाँ नर-मादा आदि भेदों से नहीं है; बल्कि एक भाषायी तत्त्व से है । यदि किसी भाषा में पुंल्लिग पाया जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि पुरुषों के लिए ही इस लिंग का प्रयोग संभव है । फिर भी नर का द्योतन करने

वाले शब्द प्राय. पुल्लिग में और मादा का द्योतन करने वाले शब्द प्राय. स्त्रीलिग में जाते है, इतना अवश्य देखा गया है । अचेतन पदार्थों पर भी इन लिगों का आरोप किया जाता है, यह एक अलग बात है । किन्तु लिंग केवल दो ही नहीं होते । कुछ भाषाओ मे एक दर्जन से अधिक लिंग होते है । हिन्दी में दो लिंग होते है :—स्त्रीलिग और पुल्लिग । कुछ शब्दों में लिग-द्योतन के लिए किसी मर्षिम का योग करना पड़ता है । लिग अथवा जिस किसी व्याकरणिक कोटि में यह प्रवृत्ति मिलती है, उसे **रूपायित कोटि** कहा जाता है । हिन्दी मे स्त्रीलिग के द्योतन के लिए /-ई/ , /-आ/ आदि का प्रयोग होता है । उदाहरणार्थ:—

/लड़क्/ + /-ई/ = लड़की
/घोड़्/ + /-ई/ = घोड़ी
/बाल्/ + /आ/ = बाला
/बालक्/ + /-इ ···आ/§ = बालिका

जिस व्याकरणिक कोटि के द्योतन के लिए किसी मर्षिम का योग नही करना पडता, प्रातिपदिकों को अपरिवर्तित रूप में ही उस व्याकरणिक कोटि के अन्तर्गत मान लिया जाता है, उसे **चयनात्मक कोटि** कहते है । हिन्दी में कुछ शब्द† इसी प्रवृत्ति के है । उदाहरणार्थ:—

पुंल्लिग	स्त्रीलिग
कोट	चोट
घाव	नाव
ग्रंथ	पुस्तक
पाँव	टाँग
कान	नाक

वाक्य-व्यवहार में हिन्दी का लिग कुछ विशेषणों तथा क्रियाओं को प्रभावित करता है । उदा० 'अच्छा घोड़ा गया' किन्तु 'अच्छी घोडी गई ।'

संस्कृत में तीन लिग थे :—पुल्लिग, स्त्रीलिग और नपुंसकलिंग । उदाहरणार्थ:—

---

§/-इ····आ/ स्त्रीलिग-द्योतक मर्षिम ही नही है; इसका प्रयोग स्त्रीलिंग रूपों के साथ आकार की लघुता दिखाने के अर्थ में भी होता है । उदा० पुस्तक—पुस्तिका । यह उल्लेखनीय है कि पुल्लिग-स्त्रीलिंग के युग्मों में बड़े-छोटे आकारके द्योतन के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं । इसलिए /-इ ···आ/ के ये दोनों कार्य उसे दो मर्षिम नहीं बनाते, एक ही मर्षिम बनाते है ।

†यदि किसी कोटि के थोड़े शब्द भी रूपायित हों तो वह रूपायित कोटि हो जाती है । हिन्दी में /घोड़्/, /लड़क्/- जैसे प्रातिपदिक अपना अर्थ देने के अतिरिक्त पुल्लिग कोटि में जाते हैं, अतः पुंल्लिग हिन्दी सज्ञाओं में चयनात्मक कोटि है ।

एक:	बालक:	आगत: ।	(पुल्लिग)
एका	बालिका	आगता ।	(स्त्रीलिंग)
एकं	फलम्	आगतम् ।	(नपुंसक लिग)

रूसी भाषा मे भी यही तीन लिग है । उदाहरणार्थ:—

पुंल्लिग—उचेन्यीक (शिष्य), उचेब्नियक (पाठ्यपुस्तक) ।

स्त्रीलिग—स्येस्त्रा (बहन), रूच्का (कलम) ।

नपुंसक लिग—स्लोवो (शब्द), म्येस्तो (स्थान) ।

वाक्य में इनका प्रभाव भी विशेपण तथा क्रिया पर पडता है । उदाहरणार्थ:—

मोय झुर्नाल प्रिशोल (पुल्लिग) 'मेरा अखबार आया' ।

मया क्न्यीगा प्रिश्ला (स्त्रीलिंग) 'मेरी किताब आई' ।

मयो मास्लो प्रिश्लो (नपुंसक लिंग) 'मेरा मक्खन आया' ।

कोर्कू में दो लिग है :—चेतन, अचेतन । चेतन लिग वाले शब्दो का रूपायन वचन के लिए होता है, अचेतन लिग वाले शब्दों का रूपायन नही होता । उदाहरणार्थ :—

म्याँ सीता	'एक कुत्ता'	म्याँ माड	'एक बाँस'
बरी सीताकीञ्	'दो कुत्ते'	बरी माड	'दो बाँस'
आफय सीताकू	'तीन कुत्ते'	आफय माड	'तीन बाँस'

३७·२ **वचन** नामक व्याकरणिक कोटि का संबध संख्या से है और भाषायी कार्यविधि के अतिरिक्त इसमें वस्तुत: संख्या का निर्वाह भी अधिकतर मिलता§ है। हिन्दी और अँगरेजी में दो वचन मिलते है—एकवचन तथा बहुवचन । उदाहरणार्थ,

(हिन्दी) लड़का—लड़के; लडकी—लड़कियाँ; लता—लताएँ

(अँगरेजी) कैट—कैट्स; डॉग—डॉग्ज; ऑक्स—ऑक्सन

संस्कृत और कोर्कू में तीन वचन मिलते है :—एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन । उदाहरणार्थ:—

(संस्कृत) राम:—रामौ—रामा:; फलम्—फले—फलानि

(कोर्कू) पोट्टा—पोट्टाकीञ्—पोट्टाकू; कोन—कोनकीञ्—कोनकू

कुछ भाषाओं में चार वचन भी मिलते है :—एकवचन, द्विवचन, त्रिवचन अथवा अल्पवचन, तथा बहुवचन ।

३७·३ **पुरुष** सर्वनामों में मिलने वाली कोटि है, जिसका अनुवर्त्तन क्रिया को करना होता है । पुरुष तीन होते हैं—उत्तम पुरुप, मध्यम पुरुप, अन्य पुरुप ।

---

§सदैव ऐसा नही होता। उदाहरणार्थ:—'उनके पास बड़ा पैसा था ।' 'वहाँ हजारों आदमी था ।' 'रमेश चले गये ।'

उत्तम पुरुष :—मैं, हम

मध्यम पुरुष :—तू, तुम

अन्य पुरुष :—वह, वे, आप

हिन्दी में 'हम' का प्रयोग वक्ता अकेले अपने लिए भी करता है, किन्तु इसे 'एकवचन' नही कहना चाहिए। गठन की दृष्टि से वह बहुवचन ही रहता है। 'वचन' भाषा की वस्तु है, वस्तु-जगत् की नहीं। इसलिए हम केवल इसका अर्थ बताते हुए यह कह सकते हैं कि "उत्तम पुरुष बहुवचन सर्वनाम एक व्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है और एकाधिक व्यक्तियों के लिए भी। यदि यह संशय मिटाना हो तो एक व्यक्ति को उत्तम पुरुष एक वचन सर्वनाम मै का प्रयोग करना चाहिए और एकाधिक व्यक्तियों को **एकाधिक व्यक्तियों** का अर्थ देने वाले शब्दो का योग करके भ्रम समाप्त करना चाहिए।" इस प्रकार अर्थगत स्थिति को निम्नलिखित रूप में दिखाया जा सकता है :—

१	मै जाऊँगा	उत्तमपुरुष	एकवचन	एक व्यक्ति
२.	हम जाएँगे	,,	बहुवचन	एक व्यक्ति अथवा एकाधिक व्यक्ति
३.	हम लोग / हम सब / हम दोनो } जाएँगे	,,	,,	एकाधिक व्यक्ति

व्याकरणिक दृष्टि से 'हम' तथा 'हम लोग' (आदि) मे भेद करना सर्वथा अनर्गल है क्योंकि गठन का कोई भेद इनकी वाक्य-रचना मे नही मिलता। दोनों ही वाक्यो मे ऊपर 'जाएँगे' क्रिया का प्रयोग हुआ है।

मध्यम पुरुष में एकवचन तथा बहुवचन के रूप 'तू' और तुम' है। गठन की दृष्टि से 'तुम' सदैव बहुवचन है, इसलिए इसका व्याकरणिक वर्णन अविकल्प रूप से यही होना चाहिए। अर्थ की दृष्टि से 'तुम' की स्थिति भी पूर्णतः 'हम'-जैमी है और यहाँ भी भ्रान्ति मिटाने की वही पद्धति अपनाई जाती है। एक और अन्तर यह है कि 'तू' का प्रयोग असम्मान§ में ही होता है और वह भी कभी-कभी, कही-कही।

---

§यह असम्मान प्रसंगानुसार अपमान भी होता है और अ-सम्मान तो वह है ही। एक उल्लेखनीय बात यह है कि सम्मान के लिए (उत्तम पुरुष को छोड़कर) बहुवचन रूपो का प्रयोग ही होता है। यह प्रवृत्ति संज्ञाओं में भी मिलती है। ऐसी संज्ञाओं से सबद्ध क्रियाएँ तो सदैव बहुवचन में होती ही है; किन्तु अधिकतर ये संज्ञाएँ स्वयं भी बहुवचन के लिए रूपायित होती है। उदा० तुमने इनको पहचाना नही ? ये उमेशचन्द्र जी है : सुरेशचन्द्र जी के लडके ('लडका' नहीं)।

किन्तु एक-दो उदाहरण ऐसे भी है जहाँ संज्ञा स्वय एकवचन की रहती है। उदा० ये उनकी माता ('माताएँ' नहीं) है। भाषा की उपर्युक्त प्रकार की भ्रान्ति

'वह', 'वे' लिखित रूप मे अन्य पुरुष के एकवचन-बहुवचन रूप कहे जा सकते है, किन्तु भाषा (उच्चारण) में स्थिति निम्न प्रकार है :—

अन्य पुरुष	एकवचन :—	वह,	वो	(जायगा)
,,	बहुवचन :—	वह,	वो, वे	(जायँगे)
		आप		(,,)

एकवचन का प्रयोग यहाँ भी असम्मान मे होता है। बहुवचन के रूपो की स्थिति उत्तम और मध्यम पुरुषों के बहुवचन-जैसी ही है और यहाँ भी भ्रान्ति मिटाने के लिए वही साधन अपनाये जाते है।

'आप' का प्रयोग सम्मान या शिष्टाचार मे उस व्यक्ति के लिए होता है जिससे बात की जा रही हो (भाषा के बजाय वस्तु-जगत् का मध्यम पुरुष); किन्तु यह व्याकरणिक दृष्टि से मध्यमपुरुष नही§ है, अन्य पुरुष है क्योंकि इसके साथ अन्य पुरुष क्रिया रूपों† का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ:—

आप जब भी आएँ, मेरे यहाँ अवश्य पधारें।

अन्यपुरुष मे 'आप' का प्रयोग वस्तु-जगत् के अन्यपुरुष के लिए भी मिलता है। उदाहरणार्थ, आज की सभा के मुख्य वक्ता श्री प्रकाशदेव मीमांसक है। आपकी विद्वत्ता के सम्बन्ध मे कौन नही जानता! सौभाग्यवश हमारी इस विशाल शिक्षा-संस्था के जन्मदाता भी आप ही है।

कुछ भाषाओं मे उत्तम पुरुष बहुवचन के दो रूप मिलते है :—समावेशी और व्यावर्त्तक। समावेशी मे वक्ता के साथ श्रोता समाविष्ट रहता है, व्यावर्त्तक मे श्रोता सम्मिलित नही रहता। कोर्कू में इसका उदाहरण है :—

के स्वाभाविक परिणामों के रूप मे ये उदाहरण बड़े रोचक है।

इसका एक सरलतर समाधान यह हो सकता है कि इन्हे तिर्यक् कारक मान लिया जाय; किन्तु तब सर्वनाम (इन)-संज्ञा (लडके) की व्याख्या अगल-अलग देनी होगी।

§कुछ लोग इसे व्याकरणिक बनाने के लिए मध्यम पुरुष रूपों के साथ बोलते है। मैंने कम-से-कम एक सुशिक्षित व्यक्ति को 'आप करो'-जैसे रूपों का प्रयोग करते सुना है। किन्तु स्पष्ट ही यह दो-एक व्यक्तियो की रचना है, भाषा की प्रकृति नही।

†आज्ञा-रूपों में अवश्य ही एक रूप प्राप्त होता है जो अन्य पुरुष से भिन्न है। वह है /-इए/ से संयुक्त रूप। उदा० कीजिए, हटिए आदि। किन्तु यह रूप मध्यम पुरुष मे भी नहीं प्राप्त होता ; दूसरे, 'आप' के साथ आने वाले शेष सभी रूप (यहाँ तक कि आज्ञा के ही अन्य रूप—आप आएँ ! वे आएँ !) अन्य पुरुष के ही होते है, इसलिए इसे अन्य पुरुष मे रखना ही समीचीन है।

क्रिया-रूप उत्तम पुरुष बहुवचन का भी यही होता है लेकिन निम्नलिखित वाक्यों का व्यतिरेक सुरक्षित रखने के लिये यह सुविधानजक है कि हम इस 'आप' को उत्तम पुरुष न मानें।

१. हम आप (=स्वयं) चले जायँगे।

२. हम-आप (=और आप) चले जायँगे।

ईञ्	'मै'		
आलिञ्	'हम दोनो'	(व्यावर्त्तक)	=मै+वह
आलाञ्	'हम दोनो	(समावेशी)	=मै+तू
आले	'हम'	(व्यावर्त्तक)	=मैं+वे
आबुञ्	हम'	(समावेशी)	=मै+तुम

३७ ४ **कारक** की कोटि मे भी पर्याप्त वैविध्य मिलता है। सस्कृत मे आठ कारक थे जिनके लिए आठ विभक्तियो मे रूपायन होता था। ये कारक थे—कर्त्ता, कर्म, करण, मम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण, सम्बोधन। हिन्दी मे वाक्य-स्तर पर कुछ वाक्याशो का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से क्रिया से जोड़ा जा सकता है और इस प्रकार कारको की कल्पना की जा सकती है; किन्तु मर्फवैज्ञानिक स्तर पर गठन की दृष्टि से हिन्दी मे तीन ही कारक है। उदाहरणार्थ —

√लड़क्

	ए० व०	ब० व०
सरल कारक	१. लड़का	४ लड़के
तिर्यक् कारक	२. लड़के	५. लड़कों
सम्बोधन	३. लड़के	६. लड़को

इनके उदाहरण :—

१. लडका गया। मैने वहाँ एक लड़का देखा।

२. लड़के ने कहा। लड़के पर बात न टालो।

३ ए लड़के ! यहाँ आ !

४. लड़के चले गये। मैंने सैकड़ो लड़के देख लिये।

५. लड़कों ने कहा। लडकों से क्या होगा !

६ ए लड़को ! चुप रहो !

जिन लोगों की भाषा में 'लड़को', 'वीरो', 'भाइयो'-जैसे रूपो के स्थान पर "लडकों", 'वीरो', 'भाइयों'-जैसे रूपो का प्रयोग सम्बोधन में भी होता है, उनकी भाषा मे दो ही कारक है—सरल और तिर्यक्।

३७·५ **काल** क्रियाओं में मिलने वाली कोटि है। काल सामान्यतः तीन होते है—भूत, वर्तमान और भविष्य।

हिन्दी मे काल की अभिव्यक्ति के लिए क्रियारूपो का रूपायन कम ही होता है, प्रायः वाक्यांशो का प्रयोग किया जाता है। भविष्य मे अवश्य ही रूपायन का उदाहरण मिलता है, जिसके लिए {-ग्} मर्फिम प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ.—जायगा, जायँगे।

३७ ६ **पक्ष** भी क्रियाओं मे मिलने वाली व्याकरणिक कोटि है। इसमें समय पर बल नही होता, बल्कि कार्य की पूर्णता-अपूर्णता और उसकी वारवारता पर बल होता है। रूसी भाषा मे दो पक्ष होते हैं—पूर्ण और अपूर्ण, जिनमें सारी क्रियाएँ विभक्त है। उदाहरणार्थः—

	पूर्णपक्ष	अपूर्ण पक्ष
अध्ययन करना	इजुचीत्य	इजुचात्य
पूर्ण करना	विपल्यीत्य	विपल्यात्य
दबाना, धकेलना	तल्क्नूत्य	तल्कात्य
बताना	रस्कजात्य	रस्काजिवत्य
व्यवस्थित करना	उस्त्रोइत्य	उस्त्राइवत्य
देना	दात्य	दवात्य

३७.७ **वाच्य** क्रियाओ में प्राप्त होने वाली वह व्याकरणिक कोटि है जिससे यह पता चलता है कि वाक्य मे कर्त्ता के रूप मे प्रयुक्त हुए शब्द से द्योतित जीव या वस्तु ने वस्तुतः कोई प्रक्रिया सम्पादित की है अथवा उससे प्रभावित हुआ है। वाच्य अधिकतर दो होते है—कर्त्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य। उदाहरणार्थ,

कर्त्तृवाच्य	कर्मवाच्य
काटना	कटना
तारना	तरना
गिराना	गिरना

३७.८ **वृत्ति** भी क्रियाओं में मिलने वाली व्याकरणिक कोटि है। वृत्तियाँ कई होती हैं। इनमें आज्ञा तथा सकेतार्थक विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वाक्यविज्ञान

३८. हम यह कह चुके है कि शब्दो के सयोजन का विचार **वाक्यविज्ञान** है। जब हम 'संयोजन' शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा तात्पर्य शब्दों की सार्थक योजना से होता है। हँसना, कमल, उठाया, ने, मारो-सरीखे पाँच-सात या इससे कम-ज्यादा शब्दो को एक साथ एकत्र कर देना और उनमें किसी प्रकार की व्यवस्था की चिन्ता न करना वाक्यविज्ञान के विषय-क्षेत्र से बाहर की बात है। वाक्यविज्ञान किसी सार्थक और सोद्देश्य व्यवस्था वाले शब्दों का अनुक्रम लेता है, ऐसा अनुक्रम जो वाक्य या वाक्यांश के रूप मे व्यवहार करता है। वह ऐसे उच्चार के विविध खंडो का पारस्परिक संबंध खोजता है। मर्षिमों, मर्षिमानुक्रमो, शब्दो अथवा शब्दानुक्रमों के सार्थक सयोजनों की व्यवस्था का नाम **रचना** है। संयोजनों की व्यवस्था की सामान्यता की बात छोड़ दें तो इस प्रकार का प्रत्येक संयोजन एक **संघटन** है। 'राम कानपुर गया' और 'श्याम सागर आया' ये एक ही रचना वाले दो सघटन है। किसी संघटन की रचना करने वाले तत्वों को **संघटक** कहा जाता है। किसी संघटन के सारे लघुतम तत्त्वो का पारस्परिक सबंध एक-सरीखा नहीं होता; कुछ तत्त्व परस्पर अधिक निकटतापूर्वक संबद्ध होते है और ये तत्त्व आपस मे मिलकर संयुक्त रूप से किसी अन्य तत्त्व या तत्त्वों से अधिक निकटता का सबध रखते हैं। संघटनों में इस प्रकार गठन

की अनेक सतहे मिलती है। अनुतान तो किसी संघटन के समग्र खंडीय स्वनिमानुक्रम का समकालिक सघटक होती है। उसे छोड़ दे तो शेष संघटन मे इस प्रकार की सतहो की खोज यांत्रिक नही होती, उससे भाषा की प्रकृति पर प्रकाश पडता है। संघटको के पारस्परिक सबंध का विश्लेषण मर्षविज्ञान के अन्तर्गत भी होता है; किन्तु वाक्यविज्ञान में उसकी विशेष महत्ता है। ऐसे सघटक जो किसी समग्र सघटन अथवा उसके अन्तर्भूत लघु सघटनों की रचना के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होते है; **समीपी संघटक** कहलाते है। समीपी सघटको में परस्पर अधिक निकट का सम्बन्ध होता है जो अर्थ की स्वाभाविकता सुरक्षित रखता है।

३९. नीचे एक वाक्य के समीपी संघटकों का विश्लेपण किया जा रहा है.—

वे	कल	इन्दौर	गये

१. वे कल इन्दौर गये।

यह सम्पूर्ण वाक्य एक संघटन है जिसके दो समीपी संघटक है—'वे' तथा 'कल इन्दौर गये'। इस वाक्य में अन्तर्भूत एक संघटन 'कल इन्दौर गये' है जिसके दो समीपी सघटक है—'कल' तथा 'इन्दौर गये'। 'इन्दौर गये' पुन: एक सघटन है जिसके समीपी सघटक है—'इन्दौर' तथा 'गये'। यदि किसी प्रबुद्ध हिन्दीभाषी से पूछा जाय तो वह इसी प्रकार का विश्लेषण करेगा क्योकि इसमे उसे अपने अर्थ की अनुभूति अधिक स्वाभाविक रूप से होती है। अनुतान इस विश्लेषण की पुष्टि करती है। 'कल' कालवाचक क्रियाविशेपण है और 'इन्दौर' स्थानवाचक क्रियाविशेषण, फिर भी इन दोनों को सयुक्त करके एक संघटन का रूप देना और तब उसे क्रिया से सम्बद्ध करना उचित नही प्रतीत होता; कुछ अस्वाभाविकता-सी आती लगती है। किन्तु इसका कारण यह नहीं है कि स्थानवाचक क्रियाविशेषण को कालवाचक क्रियाविशेषण की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है। यदि ऐसा नहीं है तो क्या निम्नलिखित विश्लेषण उचित है ?

नही। इसका वास्तविक कारण यह है कि दो विश्लेषणों में वही विश्लेषण उपयुक्त होता है (यदि अन्य बातें समान हों), जिससे संघटकों की संसक्तता अर्थात्

आसन्नता सुरक्षित रहती है। इसलिए हमारा पहला विश्लेषण ही ग्राह्य है। निम्न-लिखित उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है :—

२. वे इन्दौर कल गये।

और

कल | वे | इन्दौर | गये

३. कल वे इन्दौर गये।

पहिले और दूसरे वाक्यों में 'कल' तथा 'इन्दौर' को पहिले सबद्ध न करने का कारण है :—हिन्दीभाषी व्यक्ति की भावानुभूति तथा अनुतान का इंगित।

३९·१ किन्तु ऐसा नहीं है कि क्रिया-विशेषण सबद्ध किये ही न जा सकते हों। निम्नलिखित वाक्य में काल-द्योतक दो संघटक है ('कल' और 'तीन बजे') जो एक दूसरे के पूरक पहले हैं, क्रिया के सहायक बाद मे। जब वे परस्पर संबद्ध हो जाते है, तब एक इकाई के रूप में क्रिया की विशेषता बताते हैं।

वे | कल | तीन | बजे | गये

४. वे कल तीन बजे गये।

३९·२ उपर्युक्त उदाहरणों मे प्रत्येक संघटन के दो संघटक है, किन्तु ऐसा सदा नही होता। किसी-किसी सघटन में कई संघटक होते है। उदाहरणार्थ:—

सुरेश | पुष्पा | प्रमोद | और | वेदप्रकाश | पास | हो | गये

५. सुरेश, पुष्पा, प्रमोद और वेदप्रकाश पास हो गये।

इसमें 'और' के लिए भिन्न प्रकार का रेखांकन अपनाया गया है; क्योंकि वह

सघटन मे सक्रिय भाग नही लेता ; वह केवल इस बात का **चिह्नक** है कि उसके पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती सघटक एक विशेष संघटन मे प्रविष्ट हो रहे है। चारों संज्ञाओं को एक ही मघटन के समस्तरीय संघटको के रूप मे देखना त्रुटिपूर्ण होगा क्योकि जैसा कि कोई भी हिन्दीभाषी अनुभव करेगा, 'और' अपने पूर्ववर्त्ती संघटकों को एक इकाई के रूप मे ग्रहण करके उसे परवर्त्ती सघटक से जोडता है। अन्तिम संज्ञा के पूर्व 'और' का प्रयोग करने की हिन्दी-परम्परा की यह सुविधाजनक व्याख्या है। यदि सारी सज्ञाएँ एकबारगी एक स्तर पर रख दी जायें तो 'और' के 'स्थान' का आकृतिमूलक विश्लेषण नही दिया जा सकेगा अर्थात् सैद्धान्तिक रूप से 'और' का अन्यत्र कही भी प्रयोग वैध हो जाएगा। इस मिथ्या सभावना को दूर करने के लिए 'और' के 'स्थान' के सम्बन्ध मे एक टिप्पणी पृथक् से दी जा सकती है ; किन्तु यह आकृतिमूलक भाषिकी की दृष्टि से विश्लेषण की असफलता है।

निम्नलिखित उदाहरणों से इस प्रकार की प्रवृत्ति पर और प्रकाश पड़ेगा।

'के' को मैने चिह्नक नहीं माना है क्योंकि पूर्ववर्त्ती शब्द के साथ संयुक्त होकर यह परवर्त्ती संज्ञा के लिए एक इकाई के रूप में विशेषण की रचना करता है। 'दिनेश के' का कार्य वैसा ही है जैसा इसके स्थान पर 'अच्छे' का होता।

३९·३ निम्नलिखित वाक्यों के समीपी संघटको का विश्लेषण वाक्यों के साम्य के बावजूद असंदिग्ध है और इसके लिए रूपायन उत्तरदायी है।

लम्बे | चिकने | मोटे | पत्तियो | वाले | पेड़

लम्बे | चिकने | मोटी | पत्तियो | वाले | पेड

लम्बे | चिकनी | मोटी | पत्तियों | वाले | पेड़

लम्बी | चिकनी | मोटी | पत्तियों | वाले | पेड़

३६·४ कभी-कभी किसी उच्चार के अर्थ के सम्बन्ध में संशय होने लगता है। समीपी संघटकों के विश्लेषण से इस सशय के कारण पर प्रकाश पडता है और यह पता चलता है कि क्या भाषा स्वयं ही इस प्रकार के सशय के लिए उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ:—

कच्चे आम और अमरूद।

इस उच्चार के दो अर्थ हो सकते हैं और यह द्विविधा भाषा में सन्निहित है। इस द्विविधा का निवारण प्रसंग से हो सकता है। उक्त उच्चार के दोनों अर्थ और उन अर्थों के अनुसार उच्चार के समीपी संघटक निम्न प्रकार होगे:—

कच्चे | आम | और | अमरूद

१. अर्थ—कच्चे आम और कच्चे अमरूद।

२. अर्थ—अमरूद और कच्चे आम

यही स्थिति 'राम और श्याम के भाई' उच्चार की है। इसकी द्विविधा निम्नलिखित प्रकार की है :—
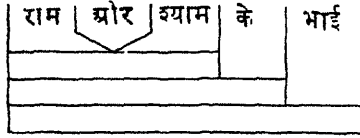
१. अर्थ—राम के भाई और श्याम के भाई।
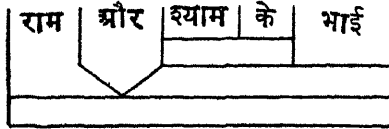
२. अर्थ—श्याम के भाई और राम।

४०. 'कच्चे आम' और 'धीरे चलना' उच्चार भिन्न-भिन्न रचनाओ से बने हुए संघटन है। किन्तु इन दोनों मे एक साम्य है। पहले संघटन का दूसरा संघटक मुख्य है, पहला संघटक उसकी विशेषता-मात्र बतलाता है। इसी प्रकार दूसरे संघटन में भी दूसरा सघटक मुख्य है और पहला सघटक उसकी विशेषता-मात्र बतलाता है। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न रचनाओं में साम्य खोजना और उन्हें वर्गबद्ध करना **रचना-प्रकार** का निर्धारण करना है।

४०·१ मुख्य रचना-प्रकार दो होते है:—अन्तर्केन्द्रिक और बहिर्केन्द्रिक। किसी सघटन के समीपी सघटकों के वाग्भाग का निश्चय करने के बाद सम्पूर्ण संघटन के वाग्भाग का निश्चय करना चाहिए। यह उनके वाक्य-व्यवहार के साम्य अथवा वैषम्य से निश्चित होता है। उदाहरणार्थ, 'कच्चे आम' संघटन के समीपी संघटक है—'कच्चे' और 'आम'। इनमे पहला सघटक विशेषण है और दूसरा सज्ञा। सम्पूर्ण सघटन 'कच्चे आम' भी वाग्भाग की दृष्टि से संज्ञा की भाँति कार्य करता है। निम्नलिखित उदाहरणों मे 'आम' या 'कच्चे आम' का इच्छानुसार प्रयोग संभव है, इससे उच्चार में व्याकरणिक अशुद्धता नहीं आती।

मुझे ($\pm$ कच्चे) आम अच्छे लगते है।
($\pm$ कच्चे) आमो का क्या होगा?
मेरे लिए ($\pm$ कच्चे) आम ले आओ!

'धीरे चलना' मे दूसरा सघटक क्रियार्थक सज्ञा है और पहला क्रियाविशेषण। सम्पूर्ण संघटन भी क्रियार्थक सज्ञा है, इसीलिए वह निम्नलिखित वाक्यो मे 'चलना' का स्थानापन्न हो सकता है।

बच्चों को ($\pm$ धीरे) चलना चाहिए।
($\pm$ धीरे) चलने से क्या होता है?
उसे ($\pm$ धीरे) चलना नही आता।

'घोड़े और गधे' उच्चार में दोनो समीपी सघटक सज्ञा है और समग्र संघटन भी संज्ञा है। इसीलिए निम्नलिखित वाक्यो मे 'घोड़े' ('गधे' भी रक्खा जा सकता है) के स्थान पर पूरा सघटन प्रयुक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ —

घोड़े (± और गधे) चर रहे थे।

घोड़ो (± और गधो) पर सवारी की जाती है।

घोड़े (± और गधे) को चराने कौन गया है।

ये सारे उदाहरण अन्तर्केन्द्रिक है। यदि कोई संघटन उसी वाग्भाग के अन्तर्गत आता हो जिसके अन्तर्गत उसका कम-से-कम एक समीपी सघटक आता है, तो उस संघटन का रचना-प्रकार **अन्तर्केन्द्रिक** होगा।

४०·२ कोई संघटन जिस वाग्भाग के अन्तर्गत आता है, यदि उस वाग्भाग के अन्तर्गत उस संघटन का कोई भी समीपी सघटक न आता हो, तो उस सघटन का रचना-प्रकार **बहिर्केन्द्रिक** होगा। यदि उस सघटन का वाग्भाग निश्चित करना संभव न हो तो उसका वाक्य-व्यवहार अपने सघटको से भिन्न होना चाहिए। उदाहरणार्थ,

घोड़े पर :—इसमे पहला सघटक संज्ञा और दूसरा सघटक परसर्ग है। सम्पूर्ण संघटन क्रियाविशेषण है। इसीलिए वाक्य-व्यवहार मे यह संघटन अपने किसी भी समीपी सघटक का स्थानापन्न नही बन सकता।

राम गया :—इसका पहला सघटक सज्ञा और दूसरा क्रिया है। यह सघटन वाक्य-व्यवहार में अपने किसी संघटक का स्थानापन्न नहीं हो सकता।

रमेश बड़ा है :—इसके दो समीपी संघटक हैं—'रमेश' और 'बडा है'। पूरा संघटन वाक्य-व्यवहार मे इनमें से किसी का भी स्थानापन्न बनने में समर्थ नही है।

४१. ऊपर यह कहा गया है कि कुछ मिलते-जुलते वाक्यों के समीपी संघटकों का विश्लेषण रूपायन के कारण असदिग्ध रहता है। वास्तव में इस प्रकार के रूपायन का वाक्य में अपना विशेष कार्य होता है। वाक्य या वाक्यांश के विभिन्न शब्दो का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाने की भाषायी पद्धति को **वाक्य-शृंखलता** कहा जाता है। वाक्य-शृखलता कई प्रकार की होती है। इसमे से रूपायन द्वारा व्यक्त होने वाली वाक्य-शृंखलता के प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित है :—

४१·१ यदि एक शब्द बिना किसी बाह्य कारण के अपने साथ के दूसरे शब्द को कोई विशेष रूप ग्रहण करने के लिए विवश कर दे, तो इस प्रकार की वाक्य-शृखलता **शासन** कहलाती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में ने, को, से, का, मे आदि परसर्ग अपनी पूर्ववर्त्ती सज्ञा को तिर्यक् कारक मे आने के लिए विवश कर देते है। इनके पूर्व एकवचन में 'घोड़ा', 'लड़का' के बजाय 'घोड़े', 'लड़के' तथा बहुवचन में 'घोड़े', 'लड़के' के बजाय 'घोड़ो', 'लड़को' का प्रयोग होता है।

संस्कृत मे 'रामं प्रति' में 'प्रति' के कारण 'राम' द्वितीया रूप में आया है। इसी प्रकार 'रामेण सह' में तृतीया 'रामेण' के लिए 'सह' उत्तरदायी है।

४१·२ यदि दो या अधिक शब्दों में कोई तत्त्व दुहराया जाता है, तो यह **अन्विति** का उदाहरण है। हिन्दी के निम्नलिखित उदाहरणो में से प्रथम स्तम्भ के प्रथम शब्दों मे वचन के लिए रूपायन की दृष्टि से कोई योग नही हुआ है; उनमें सीमान्तिक दृष्टि से वचन विद्यमान है और उसके कारण द्वितीय शब्दों मे वचन के लिए रूपायन हुआ है। दूसरे स्तम्भ के द्वितीय शब्द किन्ही लिगो के अन्तर्गत आते है (लिग के लिए रूपायन नही हुआ है); और इसी आधार पर प्रथम शब्दो का लिग के लिए रूपायन हुआ है।

(१)	(२)
एक घोड़ा	अच्छा घर
दो घोड़े	अच्छा ग्रंथ
तीन घोड़े	अच्छी किताब
सौ घोड़े	अच्छी देह
बहुत घोड़े	अच्छा शरीर

दूसरे प्रकार की अन्विति में दोनो (या सभी) शब्दो मे रूपायन होता है। उदाहरणार्थ :—

हिन्दी

अच्छा लड़का	अच्छी लड़की
अच्छे लड़के	अच्छी लड़कियाँ

गुजराती

सारो छोकरो	सारी छोकरी
सारूं छोकरूं	सारा छोकराओ
सारां छोकरां	सारी छोकरीओ

संस्कृत

सुन्दरः बालकः	सुन्दरौ बालकौ
सुन्दराः बालकाः	सुन्दरं फलम्
सुन्दरे फले	सुन्दराणि फलानि
सुन्दरी बालिका	सुन्दर्यौ बालिके
सुन्दर्यः बालिकाः	

कोर्कू

डीजा आबाटे	'उसका पिता'	(डीजा = उसका; –टे = अन्य पुरुष)
डीजा आईटे	'उसकी मौसी'	

यह अन्विति उद्देश्य-विधेय में बँटी हुई भी मिलती है। उदाहरणार्थ, नीचे के वाक्यों में कर्त्ता-क्रिया दोनों में ही पुरुष तथा वचन का इङ्गित है।§

स. (सा) पठति ।	(अ० पु०, ए० व०)
तौ (ते) पठतः ।	(,, , द्वि व०)
ते (ताः) पठन्ति ।	(,, , ब० व०)
त्वं पठसि ।	(म० पु०, ए० व०)
युवा पठथः ।	(,, , द्वि व०)
यूयं पठथ ।	(,, , ब० व०)
अह पठामि ।	(उ० पु०, ए० व०)
आवा पठावः ।	(,, , द्वि व०)
वय पठामः ।	(,, , ब० व०)

उद्देश्य-विधेय में फैली हुई अन्विति का एक स्वरूप ऐसा भी मिलता है, जिसमें उद्देश्य का रूपायन नहीं होता, वह यो ही किसी व्याकरणिक कोटि के अन्तर्गत होता है और विधेय का रूपायन उसी के अनुरूप होता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित हिन्दी वाक्यों में लिंग की व्यवस्था देखिए—

पुस्तक	रक्खी है।
घर	गिर गया।
मन	टूट गया।
आत्मा	बिखर गई।
शरीर	जर्जर हो गया।
देह	जर्जर हो गई।

§इन विविध प्रकार की अन्वितियों को कुछ विद्वान् विविध प्रकार की वाक्य-शृंखलताएँ मानते है तथा इन्हे भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित करते है।

चौथा अध्याय

भाषा की उत्पत्ति

१. हमारे समाज में शिशु को भाषा-ज्ञान इतना शीघ्र हो जाता है कि होश सँभालते-सँभालते भाषा पर उसका पूर्ण और सहज अधिकार हो जाता है। भाषा का प्रयोग करना उसके लिए इतना स्वाभाविक हो जाता है जितना साँस लेना या चलना-फिरना। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति साँस लेता रहता है लेकिन यह सोचने की आवश्यकता नही समझता कि साँस क्या है और उसके आवागमन का वास्तविक स्वरूप क्या है; जिस प्रकार वह चलता-फिरता अवश्य है और इसमे पैरों की आवश्यकता भी समझता है; किन्तु पग-संचालन में मांसपेशियों और गति-प्रेरक स्नायुओं के वास्तविक कार्य-कलाप के महत्त्व की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझता; उसी प्रकार वह भाषा का प्रयोग निरन्तर करता रहता है किन्तु उसके बारे में किसी प्रकार का चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं समझाता। जब भाषा के बारे में मनुष्य ने पहले-पहल कुछ सोचा होगा, उस समय की यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात मानी जानी चाहिए।

२. प्रारम्भ मे मनुष्य की जिज्ञासा का समाधान किसी वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से नहीं होता था; बल्कि प्रत्येक अज्ञात के पीछे किसी अलौकिक सत्ता का हाथ मानकर सन्तोष किया जाता था। इस अलौकिक सत्ता को अनादि-अनन्त माना जाता था और उसके मूल की खोज का प्रश्न ही नही उठता था। यह सत्ता ईश्वर आदि नामों से अभिहित की जाती थी। भाषा के सम्बन्ध मे चिन्तन करने पर अन्य तत्त्वो की भाँति यहाँ भी पहला प्रश्न यही हुआ कि भाषा आई कहाँ से। इस प्रश्न का उत्तर वही मिला जो इस प्रकार के सभी प्रश्नों के लिए दिया जाता रहा है—ईश्वर की देन! पतजलि के शब्दों में ईश्वर ही आदि गुरु है, उसके पहले कोई गुरु नही था।

दैवी उत्पत्ति के अनुमान के पीछे जो भाव-धारा काम कर रही थी, उसका आभास सामान्य जनता की उस प्रवृत्ति में देखा जा सकता है, जिसके आधार पर उसे प्रत्येक उपयोगी-अनुपयोगी वस्तु ईश्वर की कृपा से मिली प्रतीत होती है। कोई धनवान है तो ईश्वर ने उसे पैसा दिया है; कोई पुत्रहीन है तो ईश्वर उसे सन्तति नहीं दे रहा है और किसी की माँ मर गई है तो ईश्वर ने उसे उठा लिया है। आग और पानी-जैसे तत्त्वों के उपयोग की महत्ता का अनुभव जिस तीव्रता से किया जाता

था, उनकी शक्ति के आश्चर्यजनक प्रदर्शनों से जिस भयमिश्रित दैन्य और अन्ध-विश्वास को जन्म मिलता था, उसके फलस्वरूप इन्हे देवता माना गया। अग्नि और वरुण की महत्ता मनुष्य के प्रारम्भिक साहित्य मे व्यापक रूप मे प्राप्त होती है।

३. धर्मप्राण जनता ईश्वर को इस प्रकार की बातो मे निमित्त मानकर धार्मिक सन्तोष का अनुभव करती है। सभी धर्मावलम्बी अपनी-अपनी भाषा की उत्पत्ति ईश्वर से मानते है, उसकी भूतकालीन विस्तृत व्यापकता के बारे मे अविश्व-सनीय रूप से आश्वस्त रहते है। बाइबिल में उल्लेख है कि बेबल का आकाशचुम्बी मीनार बना रही मनुष्य-जाति की संभावित शक्ति की असीमता से ईश्वर भयभीत हो गया और विघ्नस्वरूप उसने कारीगरो की भाषा गडबडा दी। भाषा बदल जाने पर मीनार नहीं बन पाया क्योकि उसके कारीगरों में से कोई भी व्यक्ति किसी भी दूसरे व्यक्ति की बात नहीं समझ पाता था; इसलिए उनका पारस्परिक सहयोग समाप्त हो गया। 'बेबल' ('बेबीलोन' भी) शब्द स्वतः इस घटना का प्रमाण है क्योंकि यह शब्द हिब्रू 'बालल' से बना है जिसका अर्थ होता है—गड़बड़ा देना, मिश्रित कर देना या भ्रान्त कर देना। इस प्रकार 'बेबल' शब्द का अर्थ है§—वह स्थान जहां ईश्वर ने मनुष्य की भाषा गड़बड़ा दी थी।

भाषा की दैवी उत्पत्ति मे विश्वास करने वाले लोगो के इस प्रकार के मत को हम **दैवीवाद** कह सकते है। भारतीय आर्य अपनी प्राचीन भाषा सस्कृत को 'देवभाषा' कहते रहे है। जर्मन लोगों ने अपनी भाषा जर्मन को 'देवभाषा' कहा है। ग्रीस के विद्वानो मे 'फूसेइ-थेसेइ' का झगड़ा शताब्दियों तक इसी बात को लेकर चलता रहा कि भाषा ईश्वर की प्रत्यक्ष देन है अथवा मनुष्य का कृतित्व है।

४. रूसो का **निर्णयवाद** दैवी उत्पत्ति की अवैज्ञानिक कल्पना नही स्वीकार करता। इसके अनुसार आदि काल में मनुष्य-समाज ने परस्पर बैठकर भाषा का निर्माण किया; शब्दो की रचना की और उनका अर्थ निर्धारित किया। यह मत भी गम्भीरतापूर्वक विचार करने के योग्य नहीं समझा जाता। जब भाषा थी ही नहीं तब मनुष्य-समाज को एकत्र कर लेना, शब्दों की रचना करके लोगों को उनका ज्ञान करा देना और अर्थ के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर लेना किस प्रकार सम्भव हुआ? एकत्र मनुष्य-समाज, जो भाषा-जैसी किसी वस्तु से परिचित नहीं था और जिसे यह कल्पना भी न थी कि इस प्रकार की किसी वस्तु की रचना की जा सकती

---

§वास्तव मे इस शब्द की व्युत्पत्ति अक्कदी भाषा के 'बाबेल' शब्द मे है जो 'बाब-ईलु' का संक्षिप्त रूप है। 'बाब-ईलु' का अर्थ है—ईश्वर का द्वार।

अज्ञानवश ध्वनिसाम्य के आधार पर इसे यहूदी भाषा हिब्रू के 'बालल' शब्द से सबद्ध मान लिया गया है। बाइबिल की मूलभाषा हिब्रू है। यह लोक-व्युत्पत्ति का मनोरंजक उदाहरण है।

है, सहसा यह कैसे अनुभव करने लगा कि इस प्रकार की किसी वस्तु की रचना की जा सकती है और इस प्रकार की जा सकती है ? यदि यह कल्पना किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क मे आई तो उसने दूसरे व्यक्तियों पर उसे व्यक्त कैसे किया ?

५ डार्विन के अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य हाथ के संकेत से काम चलाता था। उसके वागंगों ने अचेतन रूप से उन सकेतो का अनुकरण प्रारम्भ कर दिया होगा। फलस्वरूप मनुष्य का मुख भाँति-भाँति की आकृतियाँ बनाने लगा होगा, जिनके साथ कुछ ध्वनियाँ भी सम्बद्ध रहती रही होंगी। क्रमशः किसी प्रसग मे यही ध्वनियाँ अवशिष्ट रह गई होंगी और (अर्थ की दृष्टि से) लुप्त सम्बद्ध हस्त-सकेतो का कार्य करने लगी होंगी। हस्त-सकेतो से भाषा की उत्पत्ति का समर्थन करने के कारण इस विचारधारा को हम **संकेतवाद** कह सकते हैं। पूरी-पूरी भाषाओं का निर्माण इस वाद के संदर्भ मे भी स्पष्टतापूर्वक नहीं समझा जा सकता।

६. हर्डर ने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मनुष्य ने भाषा की रचना नही की, बल्कि उसे जन्मा है। जिस प्रकार गर्भ के शिशु को जन्म देने के लिए माँ को प्रत्यक्ष रूप से कुछ करना नहीं पडता, उसी प्रकार भाषा की रचना के लिए मनुष्य को कुछ करना नही पड़ा। समय पर भाषा ने स्वय ही प्राकृतिक रूप से जन्म ले लिया। इस मान्यता को इसी आधार पर **प्रकृतिवाद** की संज्ञा दी जा सकती है।

पैगेट का कथन भी इसी प्रकार का है। उनके अनुसार मनुष्य ने दो पैरों पर चलना सीखा और दो हाथो को अन्य कार्यो के लिए मुक्त कर लिया। हाथों की अतिव्यस्तता के कारण भावाभिव्यक्ति के लिए संकेत करने में असुविधा होने लगी। वागंग अपेक्षाकृत आराम में थे क्योकि उनका प्रधान कार्य भोजन करना है और भोजन करने में मनुष्य को थोड़ा ही समय लगता था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक क्रम से भावाभिव्यक्ति का कार्य वागंगो के जिम्मे चला गया। इस मत से केवल इतना पता चलता है कि भाषा की रचना मनुष्य ने सचेतन रूप में नहीं की। इससे यह नही पता चलता कि आद्य शब्द बने किस प्रकार के ; अन्य सारे वादों पर विचार करें तो हम देखेगे कि प्राकृतिक ढंग से उत्पन्न होने वाले शब्द संकेतमूलक, अनुकरणमूलक, आवेगी तथा श्रमपरिहरणमूलक हो सकते हैं। इस प्रकार इन वादों को प्रकृतिवाद मे समन्वित रूप से अन्तर्हित मानना चाहिए। इस दृष्टि से प्रकृतिवाद ठोस विचारधारा का प्रतिनिधि है।

७. **अनुकरणमूलकतावाद** के अनुसार मनुष्य की भाषा का आरंभ अनुकरण से हुआ। पशु-पक्षियों तथा प्राकृतिक पदार्थो की ध्वनि का मनुष्य ने अनुकरण किया और अनुकरणमूलक शब्दों का प्रयोग उन-उन पशु-पक्षियों तथा पदार्थो के लिए करने लगा। इस प्रवृत्ति के दर्शन हमें आज भी होते है। मोटर साइकिल के लिए प्रयुक्त

होने वाला एक शब्द 'फटफट' या 'फटफटिया' है जो चलती हुई मोटर साइकिल की फट-फट ध्वनि के अनुकरण पर बना है। 'पिपिहरी' एक बाजा है जिससे 'पी-पी' ध्वनि निकलती है। 'भोंपू' नाम भोपू को इसीलिए मिला है कि उससे 'भो' ध्वनि उत्पन्न होती है। कौवे के लिए संस्कृत में 'काक', कोयल के लिए अँगरेजी मे 'कुक्कू' शब्द इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते है। किन्तु किसी भी भाषा को लें, अनुकरणमूलक शब्दो की संख्या इतनी कम मिलती है कि इस वाद के आधार पर भाषा के उद्गम की समस्या का समाधान संभव नहीं लगता। यदि किसी भाषा में ऐसे शब्दों की संख्या पर्याप्त अधिक मिलती है तो किसी में उनका नितान्त अभाव भी मिलता है।

दूसरे, जैसा कि रेनन का कहना है, यह सोचना युक्तिसंगत नही है कि जब मनुष्य ने पशु-पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण करना आरंभ किया, उस समय तक वह स्वयं कुछ बोलता ही नही था। यदि निम्न योनि वाले जीव-जन्तु बोलते थे तो उच्च योनिवाली मनुष्य-जाति क्यों नही बोलती रही होगी ? और यदि एक मनुष्य पशु-पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण कर सकता है तो अपने साथियो का अनुकरण उसने क्यों नहीं किया होगा ?

८. **आवेगीवाद** के पक्षधरों का कहना है कि भाषा का आरंभ आवेगी शब्दों से हुआ। पीड़ा, आनन्दातिरेक तथा अन्य तीव्र मनोभावों की प्रतिक्रिया स्वतः कुछ आवेगी शब्दों की अभिव्यक्ति के रूप में हुई। आवेगो के प्रभाव से निम्न योनियों के जीव-जन्तुओं में आज भी विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करने के प्रमाण मिलते हैं। कुत्ता दु:ख से कातर होकर अलग तरह से रोता है, अपने मालिक के साथ खेलते हुए अलग तरह की ध्वनि करता है और किसी की खुशामद करते समय अलग ही तरह से कुरकुराता है। आदिकाल में इसी प्रकार के विविध आवेगी शब्दों से ही भाषा का श्रीगणेश हुआ।

इस मत के समर्थक सामान्यतः यह मानकर चलते हैं कि आवेगों के परिणाम-स्वरूप विभिन्न आवेगी शब्दों का जन्म स्वभावतः हो जाता है। किन्तु इस प्रकार की ध्वनियों के 'स्वभावतः' उत्पादन का अर्थ यह हुआ कि इसका कोई शुद्ध शारीरिक कारण है। आवेगियों के उत्पादन की कारणभूत शारीरिक प्रक्रियाओं का उल्लेख ये लोग नहीं करते, किन्तु डार्विन ने कुछ आवेगियों के लिए शारीरिक कारण दिये है। उदाहरणार्थ, तिरस्कार, उकताहट और घृणा में नासारन्ध्रों तथा मुँह से फूँक निकालने की प्रवृत्ति होती है जिसके कारण 'पूह' या 'पिश' जैसी ध्वनियाँ बनती है। यदि कोई ऐसा कारण उपस्थित हो जाय जिससे मनुष्य सहसा आश्चर्य-चकित रह जाय तो मनुष्य का शरीर स्वतः दीर्घकाल तक श्रम के लिए तत्पर-सा हो उठता है और मुँह को फैलाकर शीघ्र ही गहरी साँस ले लेना चाहता है। जब वह भरपूर श्वास-निक्षेप करता है तो मुँह थोड़ा-सा बन्द हो जाता है और ओठ गोल होकर बाहर की ओर

निकल आते है। यदि घोष उत्पन्न किया जाय तो इससे 'ओ' स्वर उत्पन्न हो जाता है। आश्चर्य मे लोगों के मुँह से 'ओह' सुना जाता है, उसकी यही व्याख्या है। आवेगियों से भाषा की उत्पत्ति नहीं हुई, ऐसा कहने वाले लोग जोश मे आवेगियों का आवेगो से प्रत्यक्ष संबंध भी अस्वीकार करने लगते है और तर्क यह देते है कि ऐसा होता तो ससार की सारी भाषाओं के आवेगी समान होते, उनमें किसी प्रकार का भेद न मिलता। वास्तव में यह तर्क ठीक नही है। आवेगो की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न शब्दो की सामान्य प्रकृति ही आवेगों द्वारा नियन्त्रित होती है; प्रत्येक प्रयोज्य ध्वनि या स्वनिम का निश्चय आवेग नही कर देते। इसके अतिरिक्त आवेगों की अभिव्यक्ति के स्वरूप में स्वतः कुछ विकल्प भी संभव है। इस बात को समझने के लिए ससार की भाषाओ के आवेगियो की तुलना करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि उनमे अन्य सामान्य शब्दो की अपेक्षा अधिक एकरूपता है या नही।

इस वाद के विरोध मे कही जाने वाली प्रमुख बात यह है कि आवेगी भाषा के सक्रिय अग नही है। ये या तो अकेले प्रयुक्त होते है या वाक्य में आते है तो उसके पहले ही प्रयुक्त हो जाते है और वाक्य के अन्य अगो से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही स्थापित करते। बेनफी के शब्दों में कहे तो आवेगी वास्तव में भाषा का विलोम है क्योंकि उसका प्रयोग तब होगा जब कोई बोल नही पाता या आगे उसे और कुछ बोलना नही होता। यह बात पूरी तरह सही है और आवेगियों से साधित 'वाहवाही', 'टिल्लवलि'-जैसे दो-चार शब्दों से इस बात का खंडन नही होता क्योंकि ये एक तो बहुत कम है, दूसरे प्रायः आवेगियो के टूटे-फूटे 'अनुकरण' पर आधारित है। भाषा और आवेगियों के बीच की दूरी का एक प्रमाण यह भी है कि अनेक आवेगियों मे इस प्रकार की ध्वनियाँ प्रयुक्त होती है जिनका प्रयोग भाषा मे शब्द-रचना आदि के लिए नहीं होता। हिन्दीभाषी सहानुभूति प्रकट करने के लिए 'च्-च्-च्' का प्रयोग करते है जो भापा में मिलने वाले /च्/ स्वनिम से सर्वथा भिन्न है।

अन्य अनेक वादों की भाँति इस वाद की भी एक प्रमुख त्रुटि यह है कि यह आदिकाल के कुछ प्रारंभिक शब्दों की उत्पत्ति का स्वरूप बताने की गलत या सही चेष्टा तो करता है; किन्तु समग्र भाषा के विकास पर कोई प्रकाश नही डालता, जो वास्तव में उक्त शब्दों से सर्वथा भिन्न और अत्यधिक विस्तृत-विकसित-जटिल स्वरूप में सामने आती है।

९. मैक्समूलर ने भापा की उत्पत्ति के बारे मे जो मत दिया और बाद में छोड़ दिया, उसे **अनुरणनमूलकतावाद** कहा जा सकता है। इस मत के अनुसार सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में अपनी एक विशिष्ट ध्वनि होती है जो टकराहट होने पर वायु-मंडल में फैल जाती है; किन्तु उसे हम सुन नहीं पाते। आदिकाल में मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त थी जिससे वह इस ध्वनि को सुन लेता था और उस वस्तु के लिए उसी

ध्वनि का प्रयोग करने लगता था। इस वाद के अनुसार शब्द और अर्थ में एक रहस्यमय सबध ठहरता है। जब भाषा अस्तित्व में आ गई और उपर्युक्त विशिष्ट ध्वनियों को सुन सकने की शक्ति की आवश्यकता समाप्त हो गई, तब यह शक्ति मनुष्य के पास से लुप्त हो गई। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि इस वाद को स्वय मैक्समूलर ने इस योग्य नही समझा कि वह इस पर टिके रहें।

१०. नोइरे के मत को **श्रमपरिहरणमूलकतावाद** की सज्ञा दी जाती है। मनुष्य की मासपेशियो को जब अत्यधिक श्रम करना पडता है तो जोर से बार-बार श्वास-निक्षेप करने से उसे विश्राम-सा मिलता है। इस प्रक्रिया के साथ-साथ मनुष्य अपनी स्वरतंत्रियो में कम्पन भी उत्पन्न होने देता है। फलस्वरूप कुछ ध्वनियो की सृष्टि होती है। इस वाद के अनुसार इस प्रकार की ध्वनियाँ अपने-अपने कार्यो का अर्थ देने के लिए प्रयुक्त होने लगी होंगी। यह वाद भी थोड़े-से शब्दों की उत्पत्ति पर ही प्रकाश डालने की चेष्टा करता है; समग्र भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में इससे कोई जानकारी नही प्राप्त होती।

विवेचन के बजाय अज्ञानपूर्ण आस्था पर आधारित वादों को छोड़ दें तो उपर्युक्त वादों में से एक भी वाद ऐसा नहीं है जो भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अकेले हल कर सके, इस बात पर अधिकाश भाषिक एकमत है। सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि मनुष्य की आदिम शब्दावली मे कुछ अंश अनुकरणमूलक था, कुछ आवेगीमूलक और कुछ श्रमपरिहरणमूलक। भाषा के विकास को डार्विन के विकासवाद की पृष्ठभूमि में समझने की चेष्टा की जाती है। मनुष्य की शारीरिक स्थिति नस्ल की दृष्टि से सदैव आज की-सी नही रही है। जिस समय मनुष्य का शरीर आज की तरह का नही था, उसकी शक्तियाँ आज की तरह की नही थी, उस समय उसने भाषा का प्रारम्भ भी उस प्रकार नही किया होगा जिस प्रकार हम अपनी कल्पना के सहारे आज सोच सकते हैं। वास्तव में भाषा की उत्पत्ति पर किया गया यह सारा चिन्तन व्यर्थ और निष्प्रयोजन है। उपर्युक्त वादों के पीछे मूल मान्यता इस प्रकार की रहती है मानो मानव-समाज आज की-सी विकसित अवस्था में विद्यमान था, उसके पास केवल भाषा की कमी थी। इस स्थिति को मानकर तब यह कल्पना करने का प्रयत्न किया जाता है कि ऐसा समाज किस प्रकार भाषा आरंभ करेगा। चिन्तन की यह दिशा ही त्रुटिपूर्ण है। इसी प्रकार सोचते रहने से हमें कुछ अधिक उत्कृष्ट परिणाम मिलने की आशा है, ऐसा सोचना नितान्त भ्रामक है। इस प्रकार सोचने से हमें केवल विभिन्न कल्पनाएँ प्राप्त हो सकती है और उनका खंडन-मंडन भी काल्पनिक ही हो सकता है। हम अतीत के अन्धकारपूर्ण युग में किसी बिन्दु पर अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं और दो-चार कदम टटोलकर अंधकार में ही इधर-उधर चलते है, फिर हार जाते हैं और थककर बैठ जाते हैं। यदि हम ऐसी पद्धति

से किसी निष्कर्ष पर पहुँचते है तो उसकी पुष्टि के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नही होता। यदि हमारे पास कुछ प्रमाण हो तो उपर्युक्त वादो मे से किसी को भी सही सिद्ध किया जा सकता है।

१२. कुछ विद्वानों ने इस बात का निरीक्षण किया है कि शिशु भापा किस प्रकार सीखता है। कुछ जीवविज्ञानियो की मान्यता है कि शिशु जिन-जिन अवस्थाओं से गुजरता है, उन-उन अवस्थाओ से मानव-जाति गुजरी है। कुछ महीनो मे ही जिस प्रकार शिशु गर्भ म पूर्णता प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार असख्य वर्पो मे मनुष्य आज की स्थिति तक पहुँचा हे। कुछ भाषिको ने इसका यह तात्पर्य निकाला है कि बच्चा आज किस प्रकार भाषा सीखता है, इसका ज्ञान हमे यह जानकारी भी दे सकेगा कि मनुष्य-जाति ने भापा किस प्रकार अर्जित की है। इसी धारणा के आधार पर कुछ प्रयोगो की भी राय दी जाती है, कुछ प्रयोग हुए भी हैं, किन्तु यह धारणा भी उपयोगी नही है। जीवविज्ञानियों का उपर्युक्त मत केवल उस समय तक के लिए है जब तक कि शिशु अपना आकार नही ग्रहण कर लेता। इसी मत को उपर्युक्त भाषिकों की तरह खीचा जाय तो क्या यह कल्पना नही की जा सकती कि जिस प्रकार शिशु बढ़ते-बढते वृद्ध हो जाता है और मर जाता है, उसी प्रकार मानव-जाति युग-युग मे बूढी हो गई है और मर गई है, और क्या यह कल्पना करना उचित होगा ? आज का शिशु अपने समाज की विकसित भाषा को अर्जित-भर करता है; क्या आदि काल मे मनुष्य-समाज के लिए ऐसी ही विकसित भाषा लेकर कोई प्रतीक्षा कर रहा था कि मानव-जाति जन्म ले और मैं उसे यह भाषा सिखा दूँ ? नवजात शिशुओं को समाज से पृथक् रखकर उन पर प्रयोग करने के पहले हमे यह सोच लेना चाहिए कि क्या मनुष्य की सन्तान की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों की संभावनाएँ आज वही होती है जो आदि काल मे मनुष्य के पूर्वज की थी ? क्या आज हम वही नैसर्गिक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकते है जो आदि काल में विद्यमान थी ? जन्म के तुरन्त बाद यदि कई शिशुओ को एकत्र कर दिया जाय और उनकी चिन्ता छोड़ दी जाय तब तो वे मर ही जायँगे, किन्तु यदि उन्हे मौन रहकर दूध पिलाते रहा जाय तो प्रश्न उठता है कि दूध पिलाते रहने की यह प्रक्रिया क्या अनन्त काल से इसी प्रकार चलती आ रही है; इसका कोई दूसरा स्वरूप कभी नही रहा ? यदि थोड़ी देर के लिए इसे भी मान ले तो क्या उस समय भी माताएँ चुपचाप दूध पिला देती थी और मौन रहकर इसी प्रकार के प्रयोग किया करती थी ? मेरी दृष्टि मे यह आशा-वादिता निराधार है और शिशु के भाषा-अर्जन से भाषा की उत्पत्ति पर किसी प्रकार का प्रकाश पड सकता है, ऐसा सोचना नितान्त हास्यास्पद है। फिर भी, कुछ भाषिकों ने इस प्रकार के प्रयत्न किये है, इसलिए इस बात का यहाँ उल्लेख कर दिया गया है।

१३. कुछ भाषिकों ने यह आशा भी प्रकट की है कि आदिम जातियों की भाषाओ का अध्ययन करने से भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ सकता है। इस धारणा के पीछे काम करने वाली भावना यह है कि सभ्य समाज की भाषाओं मे परिवर्त्तन की संभावना अधिक होती है। किन्तु यह बात भी निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि आदिवासियो की भाषाओ के अध्ययन से हमें आदिवासियों की भाषाओं के बारे में ही जानकारी मिलेगी; इससे अधिक कुछ हाथ नही लगेगा। यह विचार भ्रामक है कि भाषा के 'गठन' में किसी प्रकार का पुरानापन हमें सभी आदिवासियों की भाषाओं में मिल सकता है। ससार की समस्त आदिम जातियों की भाषाओ का अध्ययन करके जो सामान्य तत्त्व निकाले जायँगे वे सभ्यतम जातियों की भाषाओ मे सहज ही प्राप्त हो जायँगे, यह बिना किसी सन्देह के कहा जा सकता है। फिर भी कुछ लोग आदिम जातियों की भाषाओ से इस समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ने की आशा करते है।

१४. भाषा की उत्पत्ति की खोज में एक सर्वथा भिन्न दिशा यह है कि आज की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय और उससे ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले जायँ—अर्थात् भाषा के उद्गम से चलकर आज तक पहुँचने की चेष्टा करने के बजाय हम आज से चलकर भाषा के उद्गम तक पहुँचने की चेष्टा करे। आज की भाषाओं की तुलना करके उन्हें परिवारों में वर्गबद्ध किया जाता है और उस मूल भाषा की वैज्ञानिक पुनर्रचना की जाती है। कभी-कभी उस मूल भाषा के लिखित रूप हमें सुरक्षित मिल जाते है, जिनसे हमारे निष्कर्षों को बल मिलता है। इस प्रकार के अध्ययन से हमें यह विदित हो जाता है कि भाषा के परिवर्तन की दिशा सामान्यत: क्या होती है। इसके अतिरिक्त हम भूतकाल में उस समय-विन्दु तक पहुँच जाते है जब आज बोली जाने वाली अगणित भाषाएँ विद्यमान नहीं थीं; बल्कि कोई ऐसी भाषा बोली जाती थी जो बदलते-बदलते आज की अनेक भाषाओं का रूप ले चुकी है। इन मूल भाषाओ का पारस्परिक सबध स्थापित करने के भी प्रयत्न किये जाते हैं। इस प्रकार हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ते हैं।

इस पद्धति की दिशा सही है क्योकि इसमें कल्पना का काम नहीं होता, तथ्यों का काम होता है। फिर भी अभी हम उस स्थान तक पहुँचने की आशा नहीं कर सकते जब हम यह कह सकें कि मनुष्य ने भाषा इस प्रकार आरंभ की, उसकी भाषा में ये ध्वनियाँ थी, ये शब्द थे और यह वाक्य-रचना थी। सभावना ऐसी दिखती है कि इस दिशा में भी हम एक सीमा से आगे नही बढ़ सकेंगे। इसीलिए गंभीर और ठोस कार्य मे विश्वास करने वाले भाषिक इस ओर माथापच्ची करना अच्छा नही समझते।

पाँचवाँ अध्याय

भाषा : एक वैज्ञानिक दृष्टि

१. 'भापा' क्या है, इसके संबंध मे लोगों को स्पष्ट धारणा कम ही होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से हम भाषा से क्या तात्पर्य लगाते है, इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। यहाँ हमारा तात्पर्य 'भाषा' के उस स्वरूप से होता है, जिसकी चर्चा 'भाषा की परिभाषा' के अन्तर्गत की जा चुकी है।

२. भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न यद्यपि बहुत उचित नही माना जाता, तथापि मामान्य लोगो को इसमें बड़ी रुचि रहती है। इस संबंध मे रहस्यवादी और चमत्कार-पूर्ण कारणो का आश्रय लेना स्पष्ट ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विपरीत है। दैवी उत्पत्ति और सुव्यवस्थित निर्माण की अपेक्षा भाषा के उद्‌गम का प्रकृतिवादी दृष्टि-कोण अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। प्राकृतिक ढंग से ही अनुकरण, मनोभावा-भिव्यजन और श्रमपरिहरण आदि की शब्दावली उपस्थित हो गई होगी।

३. जहाँ तक भाषा के गठन का प्रश्न है, हम इतना कह सकते है कि भाषा एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ उपव्यवस्थाएँ होती है, जिनका परिचय पीछे के पृष्ठों में दिया जा चुका है। संसार की सारी भाषाएँ लें तो उनकी व्यवस्थाओ में बड़ी विविधता मिलती है। उनके साम्य के विषय मे निश्चयपूर्वक केवल इस प्रकार की मोटी बाते कही जा सकती हैं कि ससार की सारी भाषाओं में स्वनिम होते है और सारी भापाओं मे र्भषिम होते है। इसके आगे स्वानिमिक, व्या-करणिक, मर्षस्वानिमिक, स्वनिक तथा सीमान्तिक व्यवस्थाओं में भिन्नता मिलती है। स्वानिमिक स्तर पर मिलने वाली विविधता का अनुमान इससे हो सकता है कि हवाई भाषा में कुल १३ खंडीय स्वनिम हैं और उत्तरी काकेशस की एक भापा में उनकी सख्या ७५ के लगभग है। हिन्दी स्वानिमी में /ल्, ङ, ग्/ का अनुक्रम संभव नही है; किन्तु कोर्कू स्वानिमी को वह स्वीकार है जिसमें /फुल्ङ्गी/-जैसे शब्द उपलब्ध होते है। अँगरेजी के 'नॉलेज' 'नोउ' तथा 'निट'-जैसे शब्द, जिनकी रूढ़ वर्त्तनी मे /न्/ के पहले 'क्' लिखा जाता है लेकिन उच्चरित नहीं होता, इस बात के प्रमाण है कि अँगरेजी की स्वानिमिक व्यवस्था में 'क्न्' अनुक्रम निषिद्ध है। रूसी भाषा की स्वानिमिक व्यवस्था में यह निषेध नहीं है और उसमें /क्न्यीगा/-सदृश शब्द प्राप्त होते हैं। व्याकरणिक व्यवस्थाओं की विविधता के उदाहरणों में चीनी, तुर्की और एस्किमो भाषा का

उल्लेख किया जा सकता है। चीनी मे प्रत्येक शब्द स्वतत्र होता है, उसमे और किसी तत्त्व का योग नही हो सकता और किसी शब्द के खंड नही किये जा सकते। तुर्की में धातु मे प्रत्यय पर प्रत्यय जुडते चले जाते है। एस्किमो मे तो शब्द और वाक्य में कोई भेद ही नही रहता, पूरा-का-पूरा वाक्य लम्बा होते हुए भी शब्द-सा बना होता है। मर्पस्वानिमिक व्यवस्था व्याकरणिक तथा स्वानिमिक व्यवस्थाओ को जोडने वाली कड़ी है और मर्पिमो तथा स्वनिमो की व्यवस्था के विभेदों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, ऐसी स्थिति मे मर्पस्वानिमी की विविधता स्वाभाविक ही है। स्वनिक व्यवस्थाओं मे भी पर्याप्त भेद मिलते है। हिन्दी स्वनिम /क्/ की स्वनिक परिधि अँगरेजी स्वनिम /क्/ की स्वनिक परिधि की अपेक्षा सकीर्ण है क्योंकि अँगरेजी मे /क्/ स्वनिम हिन्दी /ख्/ स्वनिम की परिधि को भी समेटे हुए है। इसी प्रकार अँगरेजी के /ल्/ स्वनिम की स्वनिक परिधि रूसी के दो मिलते-जुलते स्वनिमो की स्वनिक परिधियों के लगभग बैठती है। सीमान्तिक व्यवस्थाओं के विभेदो के उदाहरणस्वरूप हम हिन्दी का 'कल' शब्द ले सकते है। हिन्दी में बीता हुआ कल भी 'कल' होता हे और आगामी कल भी 'कल' कहलाता है। हिन्दी मे यह एक ही मर्पिम हे जिसका अर्थ हे—'आज' से लगा हुआ दिन। किन्तु अँगरेजी में इन अर्थो मे 'यस्टर्डे' और 'टुमारो' का प्रयोग होता है। हिन्दी के 'कल' का समूचा अर्थ देने वाला शब्द अँगरेजी मे नही है और अँगरेजी के 'यस्टर्डे' तथा 'टुमारो' का अर्थ देने वाले स्वतत्र शब्द हिन्दी में नही है। इसी प्रकार 'डाउट' और 'सस्पे्क्ट' दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ अँगरेजी मे हैं जिनका अर्थ एक-दूसरे से भिन्न है। 'डाउट' मे निषेधात्मकता मौजूद रहती है और 'सस्पे्क्ट' में अस्त्यात्मकता। किसी की बात में अविश्वास हो रहा हो तो 'डाउट' शब्द का प्रयोग होगा; किसी व्यक्ति के अपराधी होने की बात मन में उठ रही हो (विश्वास की पूर्व-स्थिति) तो 'सस्पे्क्ट' शब्द का प्रयोग होगा। हिन्दी की सीमान्तिक व्यवस्था मे इस भेदीकरण का प्रावधान नहीं है; उसमें 'सन्देह करना' या 'शक करना' का प्रयोग-क्षेत्र दोनों ही प्रसंगो में होगा।

४. 'भाषा' के सबंध मे जब सामान्य सुशिक्षित जनो मे चर्चा होती है तब भाषा की अपेक्षा लिपि को अधिक प्रमुखता दी जाती है। ऐसा लगता है मानो लिपि प्रधान वस्तु हो और बोली जानेवाली भाषा गौण हो। अधिक-से-अधिक, इनके लिए 'लिखित भाषा' तथा 'उच्चरित भाषा'-सरीखे शब्दानुक्रमों का प्रयोग होता है; जिनसे ऐसी ध्वनि निकलती है मानो इन दोनों को मिलाकर भाषा बनती है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह सही नही है। 'भाषा' केवल वह है जिसे हम बोलते हैं; इसलिए उसके पहले 'उच्चरित' आदि विशेषण लगाने की आवश्यकता नही पड़नी चाहिए। दूसरी ओर, लिपिबद्ध रूप 'भाषा' नही होता, इसलिए उसे 'लिखित' ही सही, 'भाषा' नही कहना चाहिए। लिपि में हम भाषा को किसी प्रकार सुरक्षित करने का प्रयास करते है। भारतीय विद्यार्थी अँगरेजी भाषा का अध्ययन पुस्तकों से करता है; इसलिए उसे

ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि पुस्तक और पुस्तक में लिखित रूप अधिक प्रामाणिक वस्तु है। वास्तव मे यह सही नही है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पुस्तको की सहायता से कितनी ही अँगरेजी पढ़ लेने के बाद भी भारतीय विद्यार्थी को किसी अँगरेज की भाषा सुनकर समझ लेने मे कठिनाई होती है और अँगरेजो की तरह बोलना भी हमें नही आता है। यदि कोई विदेशी हिन्दी की पुस्तके पढ़-पढ़कर हिन्दी भाषा सीखे और उसका उच्चारण हम हिन्दीभाषियों से बहुत अधिक भिन्न हो तो हमे बड़ा अटपटा लगेगा। यदि यह उच्चारण इतना भिन्न हो जाय कि हमारी हिन्दी समझने में उसे कठिनाई होने लगे तब तो हम उसकी भाषा को 'हिन्दी' कहते हिचकिचाने लगेंगे। हमारी अँगरेजी की स्थिति भी यही है। अँगरेजो को अँगरेजी बोलते सुनकर उनकी बात समझने में हमे कठिनाई होती है और हमे अँगरेजी बोलते सुनकर हमारी बात समझने मे अँगरेजो को कठिनाई होती है। इसका कारण यह है कि पुस्तको की सहायता से हम अँगरेजी की स्वानिमिक, मर्षस्वानिमिक तथा स्वनिक उपव्यवस्थाओं का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। अँगरेजी के दो स्वनिम जिन्हें 'वी' तथा 'डब्ल्यू' लिपिचिह्नो द्वारा द्योतित किया जाता है, हमारी अँगरेजी में पृथक्-पृथक् नही रह पाते। ब्रिटिश अँगरेजी की स्वानिमी का नियम है कि शब्द के अन्त में तथा व्यंजन के पूर्व /र्/ स्वनिम न आए; किन्तु हमे अँगरेजी की वर्त्तनी मे जहाँ कही 'र' लिखा दिखाई देता है, हम उसका उच्चारण अवश्य करते है। 'कार' 'डोर', 'सर', 'मोर', 'वर्ड', 'यस्टर्डे' आदि शब्दों का उच्चारण जब हम करते है तो स्वानिमिक दृष्टि से अन्य त्रुटियों के अलावा यह त्रुटि भी होती है। इस प्रकार बहुवचन के अँगरेजी मर्षिम {-ज्} का रूप हमारी अँगरेजी में वही नही होता जो अँगरेजों की अँगरेजी में होता है। इस मर्षिम के /-ज्/ संघर्ष का प्रयोग हम कम करते है; अनेक स्थलो पर (व्यजनों के बाद) इसके बजाय /-स्/ संघर्ष का प्रयोग करते हैं; स्वरों के बाद अवश्य ही उक्त संघर्ष हमारी अँगरेजी मे भी मिलता है। *डाग्स, *पिग्स, *किड्स, *वीन्स, *रिम्स आदि शब्दो मे अँगरेजी मर्षस्वानिमी के अनुसार /-ज्/ होना चाहिए, /-स्/ नहीं। अँगरेजी मे एक /ल्/ स्वनिम है और हिन्दी में भी एक /ल्/ स्वनिम है; किन्तु इनके स्वनिक मूल्य में अन्तर है क्योंकि दोनो के उच्चारण-क्षेत्र की परिधियाँ भिन्न है। अँगरेजी के फुल, किल, गोल्ड आदि शब्दो मे /ल्/ स्वनिम का जो स्वनिक मूल्य है, वह मूल्य हम उसे कभी नहीं देते। अँगरेजी के इन शब्दों का उच्चारण करते समय हम अँगरेजी के /ल्/ स्वनिम को स्वनिक मूल्य देते है हिन्दी के /ल्/ स्वनिम का। व्याकरणिक और सीमान्तिक उपव्यवस्थाएँ ऐसी है जिन्हे हम पुस्तकों की सहायता से सीख सकते है, यद्यपि इसमे बहुत अधिक समय और बहुत अधिक अध्ययन की आवश्यकता पडती है। इन दोनो में भी सीमान्तिकी इस प्रकार अर्जित करने में अधिक श्रमसाध्य है।

४·१ भाषा से लिपि का कोई मुकाबला नही है। भाषा मनुष्य के आदि-काल

से चली आ रही है जब कि लिपि अपेक्षाकृत बहुत नई और बहुत बाद की वस्तु है। परन्तु इन दोनों में कोई विरोध नही है; केवल इनकी आपेक्षिक महत्ता में अन्तर है। कार्य की दृष्टि से दोनो की अपनी-अपनी उपयोगिता है। भाषा की उपयोगिता के सबंध में इससे अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं है कि भाषा के बिना हमारे समाज का अस्तित्व ही संभव नही है। आज के समाज में प्रत्येक व्यक्ति का कार्य-क्षेत्र निश्चित, सीमित और विशिष्ट होता है; इसका कारण यह है कि उसके जीवन के अन्य सभी अंगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के अन्य लोग कार्यरत है। कार्य-विभाजन की यह व्यवस्था भाषा के द्वारा ही सुचारु रूप से चल रही है। लिपि भाषा की सहायिका है क्योंकि देश और काल के अन्तर को लाँघने में भाषा लिपि का ही आश्रय लेती रही है। हम जो कुछ बोलते है, वह बोलने के साथ ही नष्ट हो जाता है। यदि उसे लिपिबद्ध कर दिया जाय तो उसे हम दुनियाँ के किसी कोने में भेज सकते हैं। संप्रेषण का यह कार्य चाहे कोई विशेष दूत करे चाहे डाक-घर। इसी प्रकार हम अपनी बात लिखकर रख जायँ तो आनेवाली अनेक पीढ़ियों को हमारी बात सुलभ रहेगी। अनेक दस्तावेज और प्रख्यात विद्वानों के ग्रन्थ हमें लिपि के इस महत्त्व का स्मरण कराते है। आज के समाज मे भाषा की जो कार्य-कारिता है, वह प्रायः ही लिपि के माध्यम से व्यक्त होती है। प्रेस और टाइपराइटर हमारे समाज के आवश्यक अंग है। किन्तु पुस्तकों मे लिपि की सहायता से भाषा सीखने वाले विद्यार्थियो को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भाषा लिपि पर आश्रित नहीं है बल्कि लिपि भाषा पर आश्रित है। यदि दुनियाँ से लिपि का अस्तित्व समाप्त हो जाय तो भाषा के अस्तित्व पर आँच न आएगी; लिपि के जन्म लेने के लाखों वर्ष पहले से भाषा हमारे बीच मौजूद थी ही। परन्तु यदि भाषा समाप्त हो जाय तो लिपि का अस्तित्व समाप्त हो जायगा। अनेक गूँगे लिपि जानते हैं और उसकी सहायता से कार्य चलाते हैं—यह बात उक्त निष्कर्ष का खंडन नहीं करती। लिपि उन्हीं शब्दों को अंकित करती है जो किसी समाज में बोले जाते हैं। यदि इन बोले जाने वाले सारे शब्दों तथा वाक्यों का अन्त हो जाय तो लिपि के पास लिखने के लिए कौन-सी सामग्री बचेगी ?

४·२ लिपि भाषा की पूर्णता का दावा नही कर सकती। खंडेतर स्वनिमों के अकन की समुचित व्यवस्था लिपि में नही मिलती; भाषा में ही उनका प्रयोग मिलता है। ध्वनि का आरोह-अवरोह लिपि में अंकित नहीं किया जा सकता। कोई वक्ता अपने ओजस्वी भाषण से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर लेता है; किन्तु लिपिबद्ध करते ही उसके ओज में क्षीणता आ जाती है। किसी गायक से कोई गीत सुनकर हम झम-झूम जाते हैं; बहुत सभव है कि लिखित रूप में वही गीत देखकर हमे गहरी निराशा हो। किसी व्यक्ति को बोलते सुनकर उस व्यक्ति के बारे में हमें बहुत-सी

की भाँति देखी नही जाती। किन्तु ये साधन अपेक्षाकृत व्ययसाध्य हैं और सर्वसुलभ नही है। रेडियो का अपना निश्चित कार्यक्रम होता है जिसमे कुछ निश्चित लोग ही निश्चित प्रकार से भाग ले सकते हैं। रेडियो द्वारा प्रसारित बात केवल वही लोग सुन सकते है जिन्हे किसी प्रकार रेडियो सुलभ है। रेडियो पर प्रसारित बात किसी व्यक्ति-विशेष के लिए नही होती; उसे प्रत्येक व्यक्ति रेडियो की सहायता से सुन सकता है। इसलिए गोपनीय सन्देशो के लिए रेडियो अनुपयुक्त है। टेलीफोन का उपयोग वही लोग कर सकते है जिनके पास टेलीफोन है, जिनकी उस तक पहुँच है। टेलीफोन पर सामान्यत: एक ही व्यक्ति एक बार मे बोल सकता है और उसे एक बार में एक ही व्यक्ति सुन सकता है।

५·१ ग्रामोफोन और टेपरिकार्डर ऐसे यंत्र हैं जो देश-भेद तथा काल-भेद दोनों को मिटाने में सहायक होते है। इनसे देश-भेद की समाप्ति तुरन्त नही हो सकती; इसके लिए ग्रामोफोन रिकार्ड अथवा टेप को वांछित स्थान पर किसी प्रकार भेजना होता है। ये दोनों साधन भी भाषा के प्रत्यक्ष रूप के प्रतिनिधि होते है क्योंकि इनके ग्रहण के लिए आँखो की नही, कानो की आवश्यकता पडती है। ये दोनों साधन भी व्ययसाध्य है और सर्वसुलभ नही है।

६. उपर्युक्त साधन भाषा से निकले है और भाषा पर ही निर्भर है। अभिव्यक्ति की कुछ ऐसी प्रणालियाँ भी मिलती है जो, भाषा से पृथक् हैं। ऐसी प्रणालियो में अगों से किये जाने वाले संकेतों का भी स्थान है। हाथ के संकेत से हम किसी को बुला सकते है, किसी को बाहर निकाल सकते है और चर्चाधीन व्यक्ति की अनुपस्थिति अथवा वस्तु का अभाव द्योतित कर सकते है; सिर हिलाकर सहमति-असहमति की सूचना दे सकते हैं; आँखों से तरह-तरह की बातों की अभिव्यंजना कर सकते हैं। किन्तु सकेत श्रुतिग्राह्य न होने के कारण किसी भी व्यवधान के उपस्थित होने पर काम नही दे सकते। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म बातों की व्यजना भी संकेतों के द्वारा संभव नही है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित वाक्यों के अर्थ-भेदों की व्यंजना सकेतों के द्वारा कर सकना कितना कठिन है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है—

(१) बँगलौर में एक योगी जी रहते हैं।

(२) कुछ लोग उन्हे पाखंडी कहते है लेकिन मुझे तो वे सच्चे योगी ही प्रतीत हुए।

(३) रामदयाल शर्मा नें मुझे उनके बारे मे बताया था।

(४) पिछले सप्ताह बुधवार को ४.१५ की गाड़ी से मैं उनसे मिलने गया।

(५) उन्हें देखकर मैं तो धन्य हो गया!

६·१ संकेत भाषा के सफल स्थानापन्न नहीं हो सकते लेकिन सफल सहयोगी अवश्य हो सकते हैं। अनेक वक्ता बोलने के साथ-साथ इंगित भी करते रहते हैं और

इससे उनके वक्तव्य को बल मिलता है। इंगितों को भाषा के पूरक के रूप मे ही ग्रहण करना चाहिए।

६·२ शहरो में सड़कों के चौराहो पर यातायात की सुविधा के लिए रोशनी की एक अभिव्यक्ति-प्रणाली मिलती है। इसके अनुसार हरी रोशनी का अर्थ होता है कि सवारियो को चलते जाने की अनुमति है, रुकने की आवश्यकता नही है। लाल रोशनी का अर्थ है कि सवारियो को रुक जाना चाहिए। पीली रोशनी सक्रान्ति चिह्न है। इसका अर्थ है कि रुकी हुई सवारियो को चलने की तैयारी करनी चाहिए (क्योकि हरी रोशनी आने वाली है) और चल रही सवारियो को रुकने की (क्योकि लाल रोशनी आने वाली है)।

६·३ रेलो के लिए भी रंगों की अभिव्यक्ति-व्यवस्था मिलती है। हरा रग रेलो को चलने का और लाल रग रुकने का संकेत करता है। रात मे इस कार्य के लिए रोशनी का प्रयोग किया जाता है और दिन में झडियो का। ये व्यवस्थाएँ भी दृश्य है, श्रव्य नही; और इनकी अभिव्यक्ति की क्षमता भी अत्यधिक सीमित है। इस प्रकार की अन्य अभिव्यक्ति-प्रणालियो मे भी ये कमियाँ मिलती है। इस स्थिति में भाषा ही समर्थतम अभिव्यक्ति-प्रणाली सिद्ध होती है।

७. बहुत-से लोग भ्रान्तिवश भाषा और साहित्य को एक ही समझने लगने है। बी० ए० के विद्यार्थी अपने विषयो के चयन के सन्दर्भ मे 'तीनो भाषाएँ' तथा 'तीनों साहित्य' शब्दानुक्रमो का वैकल्पिक रूप से प्रयोग करते है। साहित्यप्रेमी के लिए किसी घसियारे के वक्तव्य और तुलसीदास के काव्य मे जमीन-आसमान का अन्तर है। साहित्यप्रेमी शायद तुलसीदास को छोड़ना नही पसन्द करेगा और घसियारे के अनगढ़ गद्य के पास फटकना नही चाहेगा। भाषिक के लिए इन दोनो मे कोई अन्तर नहीं है क्योंकि उसका सम्बन्ध साहित्य से बिलकुल नही होता। उसकी रुचि केवल भाषा में होती है; उसकी ध्वनियो, उसके शब्दो और उसकी वाक्य-रचना में होती है; इस कारण वह अपनी रुचि की सामग्री दोनो मे ही पाता है; बल्कि इन दोनो मे उसको घसियारे की भाषा अधिक अच्छी लगेगी, क्योकि वह जीवित भाषा है और उसे वह उस भाषा के बोलनेवालों के मुँह से सुन सकता है, यदि कोई भाषिक तत्त्व उसे सहज ही नहीं प्राप्त हो रहा है तो वह घसियारे से किसी भी प्रसंग पर इच्छानुसार कितनी ही देर तक कुछ सुन सकता है। तुलसीदास की भाषा के साथ यह सुविधा प्राप्त नहीं है।

७·१ साहित्य दो प्रकार का होता है—एक लिखित और दूसरा मौखिक। मौखिक परम्परा से चलते रहने वाले साहित्य को लोकसाहित्य कहा जाता है। लोक-साहित्य सभी भाषाओं में मिलता है, लिखित साहित्य कुछ ही में मिलता है। यदि किसी भाषा में लिखित साहित्य विद्यमान है तो इससे उस 'भाषा' की कोई समृद्धि-

असमृद्धि नही होती। यदि किसी भाषा मे लोकसाहित्य भी न मिले तो भी उस 'भाषा' पर किसी प्रकार का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ता। भाषा साहित्य से सर्वथा भिन्न वस्तु है और जहाँ तक एक भाषिक के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, समृद्ध साहित्य वाली भाषा जितनी आदरणीय और आकर्षक होती है, उतनी ही आदरणीय और आकर्षक नितान्त साहित्यहीन भाषा भी होती है।

८. एक व्यक्ति की भाषा किसी भी दूसरे व्यक्ति की भाषा के सर्वथा समान नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में मिलने वाले भेदों को ध्यान मे रखते हुए हमे एक व्यक्ति की भाषा को भी एक स्वतंत्र इकाई के रूप मे देखना पडता है। एक व्यक्ति की भाषा को **अनुली** कहते हैं। मिलती-जुलती अनुलियों का समूह **बोली** कहलाता है। मिलती-जुलती बोलियों के समूह को भी एक वर्ग में रखते हैं और उनमे से किसी प्रमुख बोली को **भाषा** कहकर वर्ग की शेष सब बोलियो को उसी भाषा मे समाहित कर देते हैं। इस प्रकार यदि हम एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की ओर बढ़ते है तो हमे भाषा में भेद मिलने लगता है। व्यक्ति देश-भेद की लघुतम इकाई है। देश-भेद मे हमे अनुलियाँ मिलती हैं, देश-भेद से बोलियां मिलती है और इसके बाद देश-भेद मे ही विभिन्न भाषाएँ मिलती है। किसी भाषा के बोलने वाले करोडों होते है और १९४० ई० के लगभग चितीमाचा भाषा के बोलने वाले कुल दो व्यक्ति थे। जहाँ तक भाषिकी का सम्बन्ध है, वैज्ञानिक दृष्टि से इनमे मूल्यगत अन्तर नहीं है। अधिक विस्तारवाली भाषा मे अधिक विभेद होते हैं और कम विस्तार वाली मे प्राय: कम; एक के बोलने वाले अधिक है और दूसरी के बोलने वाले कम: वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों के वैषम्य के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है। जहाँ तक भाषा के गठन का सम्बन्ध है, दोनो ही भाषाएँ भाषिक के लिए काम की हैं। इस आधार पर किसी भाषा को महान् और किसी को निम्न बताना अवैज्ञानिक है।

भाषा और बोली का पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित प्रकार का हो सकता है—

(१) किसी एक पुरानी भाषा से परिवर्तित होते-होते अनेक नये रूप बन जाते हैं। इन रूपों को पहले उस भाषा की बोलियों के रूप में स्वीकार किया जाता है। भेद की अधिकता होने पर इन्हे भाषा कहा जाने लगता है। यह दृष्टिकोण ऐतिहासिक है।

(२) वर्णनात्मक दृष्टि से, मिलती-जुलती बोलियों को एक भाषा के क्षेत्र में प्रचलित माना जाता है। उक्त बोलियों में से जिस बोली को राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक या साहित्यिक कारणों से इतना प्रचार मिल जाता है कि अन्य बोलियों के क्षेत्र में भी समाज का उच्च तथा मध्य वर्ग उसका व्यवहार कुछ प्रसंगों में करने लगता है, उसे 'भाषा' की सज्ञा दे दी जाती है। शेष बोलियाँ उस 'भाषा' की बोलियां कही जाने लगती हैं। इस परिस्थिति मे यह संभव

है कि ऐतिहासिक दृष्टि से ये सभी बोलियाँ (जिनमें वह बोली भी सम्मिलित है जिसे 'भाषा' सज्ञा दे दी गई है) किसी एक ही भाषा से उत्पन्न हुई हों।

(३) कभी-कभी ऐमी बोलियाँ भी एक वर्ग मे रख दी जाती है जो ऐतिहासिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न भाषाओ से निकली है। इनमे से जिस बोली को प्रमुखता मिल जाती है और जिसका प्रयोग अन्य बोलियो के क्षेत्रो में भी यदा-कदा होने लगता है, उसे 'भाषा' कहा जाने लगता है और शेष बोलियाँ उसकी बोलियाँ मानी जाने लगती है। यह स्थिति वर्णनात्मक दृष्टि से सही है, ऐतिहासिक दृष्टि से नही। हिन्दी-क्षेत्र में भोजपुरी, मैथिली, मगही का जन्म मागधी अपभ्रंश से हुआ है, अवधी का अर्धमागधी से और ब्रज का शौरसेनी से। फिर भी वर्णनात्मक स्तर पर इन्हे बोलियों के एक ही वर्ग मे रक्खा जाता है। खडी बोली हिन्दी, जो कि उक्त बोलियो की भाँति ही एक बोली है, उक्त बोलियों के क्षेत्र में सामान्य रूप से गद्य-पद्य का माध्यम है और सुशिक्षित लोगों के वार्तालाप का माध्यम है। इस कारण खडी बोली हिन्दी को 'भाषा' कहा जाने लगा है और उपर्युक्त अन्य बोलियाँ उसकी बोलियाँ मानी जाने लगी है।

(४) परस्पर मिलती-जुलती बोलियों के समूह को कभी एक ही नाम से अभिहित किया जाता है। यह नाम एक 'भाषा' का माना जाता है, किन्तु यह आवश्यक नही है कि उन बोलियो में से किसी एक को अन्य बोलियो के क्षेत्र मे प्रमुखता प्राप्त हो। ऐसी स्थिति मे किसी एक बोली को 'भाषा' तथा अन्य बोलियो को उस भाषा की बोलियाँ कहना संभव नही होता।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बोली से भिन्न भाषा की कोई सत्ता नही होती। वास्तव मे भाषा मे कोई भाषागत कारण नहीं होते, जिनसे उसे 'बोली' न कहकर 'भाषा' कहा जाय। इसलिए 'बोली' को निम्न स्तर देना तथा 'भाषा' को उच्च स्तर देना भाषिकी के अपने दृष्टिकोण से अवैज्ञानिक है। प्रचार-बहुलता तथा विभिन्न बोलियों के क्षेत्र में प्रयोज्यता आदि दृष्टिकोणों के आधार पर भले ही उनके स्तर मे भेद किया जाय।

अधिक विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होने पर 'भाषा' के कई अन्तर्भाग मानने होते है। ऐसी स्थिति में बड़े भागों को 'उपभाषा' और इन बड़े भागो के अन्तर्गत मिलने वाले छोटे भागों को 'बोली' कहा जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'उपभाषा' का भी क्षेत्र होता है और 'उपभाषा' के नाम पर हम जिसका उदाहरण देते है, वह कोई बोली ही होती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि हिन्दी (खडी बोली) भाषा की एक उपभाषा अवधी है, जिसकी एक बोली बैंसवाड़ी है।

भाषा, उपभाषा, बोली आदि नामो के आधार पर हम किसी को अधिक और किसी को कम सम्माननीय मानने लगें तो यह एक बडी अवैज्ञानिक बात होगी। इस पुस्तक में 'भाषा' शब्द का प्रयोग उक्त भेदों की उपेक्षा करते हुए किया गया है।

६. यह न सोचना चाहिए कि भाषा स्थिर वस्तु है। भाषा मे प्रति पल परिवर्त्तन होता रहता है। यह परिवर्त्तन अत्यन्त मन्थर गति से होता है जिसके कारण हमे किसी प्रकार का परिवर्त्तन होता नहीं दिखाई देता और सैकड़ों वर्ष बाद हम जान पाते है कि भाषा कही-कही बदल गई है। परिवर्त्तन की गति की इस मन्दता का कारण यह है कि समाज मे भाषा को बोधगम्य रहना पडता है और इस शर्त के कारण हम अपने निकटस्थ व्यक्तियों की भाति ही बोलने की चेष्टा करते है ताकि हम औरो से अलग न हो जायें। इसी प्रकार हमारी चेष्टा रहती है कि हम अपनी बात औरो पर स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकें तथा और लोग हमारी बात को भली-भाँति समझ सकें।

किन्तु मन्दता के बावजूद परिवर्त्तन की गति रुकती नही है और कालान्तर में एक भाषा का रूप इतना अधिक बदल जाता है कि उसे पहचानने मे कठिनाई होने लगती है। अलगाव आने से एक ही भाषा कालान्तर में अनेक भिन्न-भिन्न भाषाओ का रूप ग्रहण कर लेती है। इन भाषाओं मे वैषम्य भी होता है और साम्य भी। वैषम्य किन्ही नियमों पर आधारित होता है, आकस्मिक और उच्छृङ्खल नही होता। रूसी भाषा के द्वा, त्री, प्याच, द्येस्यत्य, चाश्का शब्दों का साम्य सस्कृत के द्वौ (< द्वि), त्रि, पच, दश, चषक से देखकर आश्चर्य नही करना चाहिए। ये दोनों भाषाएँ एक ही मूल भाषा से निकली है। जो भाषाएँ एक ही मूल भाषा से निकली है, उन्हें एक ही परिवार की भाषाएँ कहा जाता है और भाषाओ को इस प्रकार वर्गबद्ध करना भाषाओ का **पारिवारिक वर्गीकरण** कहा जाता है।

भाषाओं के जन्म और मृत्यु से क्या तात्पर्य है, इस बात पर भी यहाँ विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। भाषाओं का जन्म जीव-जन्तुओ के जन्म की तरह नहीं होता, जिसमें माता-पिता का अस्तित्व अपनी सन्तति से पृथक् होता है और तीनों ही साथ-साथ रहते है। भाषा परिवर्तित होते-होते कालान्तर में जब स्वतः कई भाषाओं के रूप में सामने आती है, तब हम कहते हैं कि इन भाषाओं ने जन्म लिया है। इन भाषाओं के जन्म लेते ही जननी भाषा मर जाती है (क्योंकि वह स्वयं ही बदलकर कई भाषाएँ बनकर आई है)। इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक सही होगा कि किसी समय जिसे हम 'क' भाषा कहते थे, कालान्तर में वह 'ख' और 'ग' भाषाओ का रूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार जन्मी भाषाएँ अपनी जननी भाषाओं से पृथक् कोई अस्तित्व नही रखती। भाषाओं के मरने के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय है—

(१) जब एक भाषा बदलते-बदलते कालान्तर में अनेक भाषाओं का रूप ग्रहण कर लेती है तब हम कहने लगते हैं कि अमुक भाषा मर गई है। वस्तुतः यह कथन सत्य नहीं है। इसमें भाषा मरती नही है बल्कि नया रूप ग्रहण कर लेती है।

यह स्थिति भाषा के मरण की नही, उसके परिवर्त्तन की है। मूल जर्मनिक भाषा इसका उदाहरण है।

(२) कभी-कभी ठीक उपर्युक्त स्थिति होती है; लेकिन प्राचीन भाषा को हम लिपि की सहायता से सुरक्षित रखते है और लोक-जीवन से उक्त भाषा का प्रयोग समाप्त हो जाने के बाद ग्रथों की सहायता से पुन. उसे सीखते है ; उसमें लिखने और बोलने का अभ्यास भी करते है। किन्तु यह भाषा के 'जीवित होने' का प्रमाण नहीं है। सस्कृत की स्थिति यही है। उत्तर भारत की बँगला, उडिया, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाएँ जिस मूल भाषा से नि.सृत हुई है, सस्कृत उसी का एक परिष्कृत रूप है। इस प्रकार संस्कृत उपर्युक्त अर्थ में एक मृत भाषा है। यदि ग्रन्थों की सहायता से हम संस्कृत सीख लेते है तो इससे वह सस्कृत जीवित नही हो जाती। आज कोई व्यक्ति ऐसा नही है जो जन्म से संस्कृत बोलना आरम्भ करता हो और बचपन में सगे-सम्बन्धियो तथा मित्रों से अन्य किसी भाषा के बजाय सस्कृत में बातचीत करता हो। उपर्युक्त अर्थ में सस्कृत के 'मृत' होने का यह प्रमाण है। यदि कोई मुहल्ला ऐसा बसाया जाय जहाँ लोग बच्चो के सामने आरम्भ से ही सस्कृत का प्रयोग करें और किसी अन्य भापा का प्रयोग न करे तो ऐसा सम्भव है कि कुछ लोग बचपन से सस्कृत का ही व्यवहार करने लगें। किन्तु यह प्रयत्न किसी कृत्रिम-सी भाषा को लादने का अस्वाभाविक प्रयत्न होगा। कोई भाषा जीवित है, इसे जानने का एक अत्यन्त सरल ढंग यह है कि कुछ लोग हमे ऐसे मिलें जो उस भाषा के अतिरिक्त और कोई भाषा न बोल सकते हों।

(३) यदि किसी भाषा के बोलने वाले पराभूत होकर कोई दूसरी भाषा अपना लें और अपनी भाषा का प्रयोग पूर्णतया त्याग दें तो उनके बच्चे इसी नई भापा का व्यवहार करेंगे और उपर्युक्त पुरानी भाषा मर जायगी।

(४) यदि किसी भाषा के बोलने वालों की सख्या कम होती चली जाय और बचे-खुचे लोग मर जायँ तो उनके साथ उनकी भाषा भी मर जायगी। युगोस्लाविया में बोली जाने वाली डालमेशियन भाषा इसका उदाहरण है, जिसे बोलने वाला अन्तिम व्यक्ति १८६८,ई० में एक खान-दुर्घटना में मारा गया।

भापा के इस प्रवाह-रूप को ध्यान में रखते हुए अपेक्षाकृत प्राचीन भाषा को पवित्र तथा अधिक सम्माननीय मानना भाषिक की दृष्टि में अवैज्ञानिक है। नई और पुरानी भापा मे इस प्रकार का कोई भेद नहीं करना चाहिए।

१०. भाषाओं में एक प्रश्न पर सर्वत्र विचार किया जाता है और वह यह कि अमुक रूप शुद्ध है या अशुद्ध। भाषिक इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर देने का प्रयत्न नही करता। उसका कार्य है पर्यवेक्षण और विश्लेषण। यदि कोई पूछे कि हिन्दी में 'सामर्थ्य' पुंल्लिग है या स्त्रीलिंग तो भाषिक का उत्तर होगा कि यह कुछ

लोगों के लिए पुल्लिग है, कुछ के लिए स्त्रीलिग। 'गठन' की स्थिति भी यही है। 'दही' दिल्ली और मेरठ की ओर स्त्रीलिग है, अन्यत्र पुंल्लिग। भाषिक के लिए केवल 'उपर्युक्त' शब्द ही शुद्ध नही है। यदि वह बहुत बडी संख्या में लोगों को 'उपरोक्त' बोलते-लिखते पाता है तो उसके लिए यह रूप भी शुद्ध है। संस्कृत मे भले ही 'उपर' शब्द न रहा हो; वर्णनात्मक भाषिकी का अनुयायी/उपर्/को {ऊपर} मर्षिम का संमर्ष घोषित कर देगा जो वितरण की दृष्टि से /-उक्त/ के पहले पाया जाता है। यह कहना कि हिन्दी के विद्यार्थियो का उच्चारण अशुद्ध होता है क्योंकि वे 'ष्' का उच्चारण 'श्' की तरह करते है, अवैज्ञानिक कथन होगा। कहना यह चाहिए कि हिन्दी मे 'ष्' ध्वनि नही मिलती। हिन्दी वर्त्तनी मे इस लिपिचिह्न का प्रयोग जहाँ-कहीं होता है, 'श्' ध्वनि के लिए होता है। इसी प्रकार 'ऋ' ध्वनि हिन्दी में संस्कृत की भाँति स्वर नही है; इस लिपिचिह्न का प्रयोग 'रि' ध्वन्यनुक्रम के लिए मिलता है।

इस प्रकार भाषिकी के अनुसार भाषा के प्रति हमारे वैज्ञानिक दृष्टिकोण का तकाजा है कि हम यह न कहे कि भाषा मे क्या होना चाहिए; हम केवल इतना कहें कि भाषा में क्या है। इसका अर्थ यह नही है कि समाज के अन्य सदस्यो का यह अधिकार भाषिकों को प्राप्त नहीं है कि वे अपनी भाषा की असंगतियो पर विचार कर सकें अथवा अन्य लोगों के साथ प्रसंगानुसार उन्हें दूर करने का प्रयास कर सकें। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य केवल यह है कि भाषिक भाषा की असंगतियों को असंगतियाँ कहकर उन्हें अपने विवरण से बहिष्कृत करने के लिए स्वतत्र नहीं है। साथ ही, उसका मानदण्ड यह नही है कि व्याकरणिक दृष्टि से नियमित प्रतीत होने वाला रूप ही अधिक ग्राह्य है। लोक-प्रयोग भाषिक के लिए एक अधिक ठोस आधार है।

●

भाषिकी

छठा अध्याय

भाषिकी क्या है

१. भाषाविज्ञान§ को अर्थात् भाषा के विज्ञान को **भाषिकी** कहते है। भाषिकी मे 'भाषा' से हमारा क्या तात्पर्य है, इस बात का उल्लेख पीछे के पृष्ठो मे किया जा चुका है। भाषिकी में इसी 'भाषा' का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है। इस वैज्ञानिक विवेचन को हम 'विज्ञान' कह सकते है या नही, यह बात कुछ अंशो में विवादास्पद है। विज्ञान मे विकल्प नही होते, विज्ञान का सत्य सार्वकालिक और सार्वत्रिक होता है। भाषिकी मे इन गुणो का अभाव बताया जाता है और उदाहरण-स्वरूप व्युत्पत्ति के नियम विज्ञापित किये जाते है। वास्तव में यह दृष्टि-कोण बहुत सही नही है। निम्नलिखित व्युत्पत्तियो का उल्लेख किया जा सकता है—

(१)		(२)		(३)
कर्म	>	कम्म करम	>	काम
धर्म	>	धम्म धरम	>	धाम
चर्म	>	चम्म *चरम	>	चाम
मर्म	>	*मम्म मरम	>	*माम

प्रथम स्तंभ के रूप संस्कृत के अपरिवर्तित अर्थात् तत्सम रूप है। दूसरे स्तभ के रूपों मे से प्रथम रूप तत्सम रूपो से व्युत्पन्न प्राकृतकालीन रूप है। इनमें से *मम्म प्राकृत साहित्य मे प्राप्त नही होता; लेकिन उक्त नियम इससे खडित नही हो जाता। संभव है *मम्म का प्रयोग होता रहा हो और संयोगवश उसका प्रयोग प्राकृत-साहित्य में नही मिलता। यदि इसका प्रयोग होता ही न रहा हो तो भी

§'भाषाविज्ञान' वर्णनात्मक शब्द (लिंग्विस्टिक साइंस) है, जबकि 'भाषिकी' (लिंग्विस्टिक्स) पारिभाषिक शब्द है। पारिभाषिक शब्द के रूप में 'भाषाविज्ञान' का प्रयोग उचित नही है; क्योंकि इससे इस प्रकार का प्रश्न हास्यास्पद हो जाता है कि भाषाविज्ञान विज्ञान है या कला ?

नियम का खंडन नही होता क्योंकि प्रत्येक सभाव्य स्वनिभानुक्रम किसी भाषा में शब्द के रूप में व्यवहृत हो ही, यह आवश्यक नही है। उक्त नियम की नियमितता केवल इतनी है कि यदि मर्म का प्राकृत रूप मिलता तो *मम्म मिलता, *मिम्मा नहीं (और यदि इस प्रकार का अनियमित रूप मिलता भी तो यह 'अनियमित' केवल इस अर्थ में होता कि उसके परिवर्त्तन के आधारभूत नियम को हम ठीक से समझ नही पाये हैं। ऐसी स्थिति मे हमे उस अज्ञात नियम की खोज करनी होती।) तीसरे स्तभ के रूप तद्भव रूप हैं। इनमे से 'धाम' का अत्यन्त सीमित प्रयोग 'काम-धाम' अनुक्रम में§ मिलता है; किन्तु प्रत्येक शब्द के प्रयोग की मात्रा भाषिकी के निर्धारण का विषय नहीं है। *माम रूप हमें उपलब्ध नहीं होता; इसके दो कारण हो सकते है। या तो *मम्म शब्द था ही नहीं जिससे *माम की व्युत्पत्ति होती अथवा यदि वह था भी तो बाद में उसके प्रयोग की समाप्ति हो गई। इस रूप की नियमितता इसमें है कि यदि प्राकृत काल में *मम्म रूप रहा होता और इस र्मापम की यथावत् सुरक्षा भाषा ने आवश्यक समझी होती तो तद्भव रूप हमे *माम ही मिलता, *मन्मा आदि नही। यदि ऐसा 'अनियमित' रूप मिलता तो उसकी तथाकथित अनियमितता को दूर करने के लिए हमें इसके लिए उत्तरदायी 'नियम' की खोज करनी पड़ती।

दूसरे स्तंभ के दूसरे शब्द अर्धतत्सम है अर्थात् प्राकृतकाल मे हुए पहले परिवर्तन (धर्म >धम्म; कर्म > कम्म) के बाद तत्सम रूप आदान किये गये और उनमे दूसरे नियम से परिवर्त्तन हुआ। इनमे *चरम रूप हमे उपलब्ध नही होता और यहाँ भी नियमितता इस बात में है कि यदि 'चर्म' का भी अर्धतत्सम रूप मिलता होता तो वह *चरम ही होता (यदि भिन्न होता तो किसी नियम के अनुसार)। हम यह तो नही कह सकते कि आदान किये जाने वाले शब्द कितने होगे, कौन-कौन होंगे और किस स्रोत से आएँगे। पानी की वैज्ञानिक जाँच करने वाला व्यक्ति यह तो नही कह सकता कि इसमें कितने और कौन-कौन से पतिंगे कहाँ-कहाँ से आकर गिरेंगे।

इस प्रकार व्युत्पत्ति मे उच्छृंखलता और अनियमितता नही होती। यदि हमे कोई अपवाद दिखाई पड़ते है तो इसका कारण यह है कि हमने उनके नियम खोजने में अभी तक सफलता नही पाई है। इस प्रकार व्युत्पत्ति एक पूर्णतः वैज्ञानिक विषय है और व्युत्पत्ति के सहारे अपवादों में मिथ्या उदाहरण प्रस्तुत करके अन्य विज्ञानों से इस मामले में भाषिकी का पार्थक्य सिद्ध करने का प्रयास करना भ्रामक है।

---

§'ईको वर्ड' की भी ऐतिहासिक व्युत्पत्ति होती है, विशेषतः तब जब वह 'अनियमित' हो।

२. भाषिकी के बारे में एक बात और कही जाती है कि भाषिकी के तथ्य अन्य विज्ञानो की भाँति सार्वत्रिक और सार्वकालिक नही होते। यह बात भी कुछ भ्रान्तियो पर आधारित है। लोग कहते है कि धूप से पानी भारतवर्ष मे सूखता है तो अमेरिका मे भी सूखता है। यदि वह भाप बनकर आज उड़ जाता है तो पाँच सौ वर्ष पहले भी उड़ जाता था और पॉच सौ वर्ष बाद भी उड़ेगा। भाषिकी में किसी भापा के ध्वनि-नियम केवल उसी भाषा पर लागू होते है, अन्य भाषाओं पर नहीं। जो ध्वनि-नियम किसी भाषा पर पाँच सौ वर्ष पहले लागू होते थे, वे आज लागू नही होते और जो आज लागू हो रहे है वे पाँच सौ वर्ष बाद नहीं लागू होगे।

इस प्रकार के तर्क देने वाले लोगो से पूछना चाहिए कि धूप से पानी भाप बन जाता है लेकिन मिट्टी भाप नही बनती ; ऐसा क्यो ? क्या इसका अर्थ यह लगाया जाय कि भौतिकी अर्थात् भौतिक विज्ञान के नियम सार्वत्रिक नही है ? यदि पानी और मिट्टी की तुलना उपयुक्त नही है तो किन्ही दो भाषाओं की तुलना भी समीचीन नही है। यदि कोई कहे कि दो या तीन जितनी भी भाषाए हों, आखिर भापाएँ हो है तो उससे कहा जा सकता है कि पानी और मिट्टी कितने ही प्रकार की और कैसी भी क्यों न हों आखिर 'तत्व' ही है। यदि कोई यह कहे कि पानी और मिट्टी मे जितना भेद है उतना भेद दो भाषाओ मे परस्पर नही होता तो इस प्रश्न पर हमे विचार करना चाहिए। भेद की अधिकता और कमी की नाप-जोख का पैमाना क्या है ? प्रत्येक भापा की संघटक उपव्यवस्थाएं अन्य भाषाओ की तुलना में भिन्न होती हैं। इन उपव्यवस्थाओ की विविधता की नाप-जोख वस्तुनिष्ठ दृष्ठि से की जानी चाहिए। इस प्रकार की परीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भाषाओं में बडा विभेदपूर्ण अन्तर मिलता है। जिस प्रकार विभिन्न तत्त्वों से बने भौतिक पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न होते है, उसी प्रकार विभिन्न उपव्यवस्थाओं से संघटित भापाएँ भी एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। यदि भाषाओ मे कोई सामान्यता है (जैसे कि सब मे स्वनिम होते है और सब मे मर्फिम होते है) तो उसी सामान्यता के अनुरूप भाषायी नियमो मे भी सामान्यता अर्थात् सार्वत्रिकता मिलती है। उदाहरणार्थः—यह बात सभी भापाओं के लिए निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि प्रत्येक भाषा की प्रत्येक उपव्यवस्था में अन्तर होता रहता है और प्रत्येक भापा में ध्वनि-नियम काम करते होते है। इसके बाद भिन्नता का क्षेत्र आ जाता है ; फलतः जिस प्रकार मिट्टी की बात पानी पर लागू नही होती उसी प्रकार 'क' भाषा के ध्वनि-नियम 'ख' भाषा पर लागू नहीं होते।

इसी प्रकार भापिकी के तथ्यों की सार्वकालिकता में सन्देह करने वाले लोगों से पूछना चाहिए कि किसी आम या अमरूद का वैज्ञानिक विश्लेषण दस दिन पहले जो निष्कर्ष प्रदान कर चुका है, क्या आज उसी का किया जाने वाला वैज्ञानिक

विश्लेषण हमे वही निष्कर्ष प्रदान करेगा ? समय बीतने के साथ-साथ अमरूद में सड़ाँध उत्पन्न होने लगती है ; भाषा में इस प्रकार की सड़ाँध उत्पन्न नहीं होती— इतने अंशों में उपर्युक्त उपमा अनुपयुक्त है ; किन्तु शेषाश मे वह पूर्णतः समीचीन है । जिस प्रकार फलों में रक्खे-रक्खे परिवर्तन आता जाता है, उसी प्रकार समय के साथ-साथ भाषा में भी परिवर्त्तन आता जाता है । आज की भाषा हमारी कल की भाषा से भिन्न है और कल की भाषा हमारी आज की भाषा से भिन्न होगी । आज जो भाषा हम बोल रहे है, पाँच सौ वर्ष पूर्व दुनियाँ में उसका अस्तित्व ही नहीं था और पाँच सौ वर्ष बाद इस भाषा का कहीं पता नही चलेगा । जो भाषा पाँच सौ वर्ष बाद बोली जाने वाली है, उसका आज कहीं पता-ठिकाना नही है । काल-भेद से प्रभावित होने के बाद हमारे सामने आने वाली भाषाएँ एक-दूसरे से पृथक् होती है, चाहे उनके लिए हम एक ही नाम का प्रयोग करते रहें । भूतकालीन हिन्दी, वर्तमान हिन्दी और भविष्य-कालीन हिन्दी एक ही वस्तु नही है । इनके या इसी प्रकार काल-भेद से विभक्त भाषाओ के भाषिक नियम उसी प्रकार भिन्न-भिन्न होंगे जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भौतिक पदार्थों के स्वरूप-लक्षण भिन्न-भिन्न होते है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषिकी में जो अवैज्ञानिकता लोगों को दिखाई देती है, वह इस विज्ञान की अवैज्ञानिकता नही है बल्कि इस विज्ञान की विवेच्य वस्तु की अन्य विज्ञानों के विवेच्य पदार्थों से भिन्नता का प्रतिफल है । पाँच सौ वर्ष बाद आने वाली भाषा के नियमों का विवेचन हम आज नही कर सकते क्योंकि वह भाषा अभी दुनियाँ मे आई ही नहीं है किसी अज्ञात और अविद्यमान पदार्थ का विश्लेषण कैसे किया जा सकता है ?

३. एक विचित्र बात यह भी है कि भाषिकी की वैज्ञानिकता और अवैज्ञानिकता का प्रश्न लोग केवल ध्वनि-नियमों के विवेचन द्वारा हल कर लेना चाहते है ; भाषिकी के अन्य अंगो की ओर उनका ध्यान नहीं जाता । स्वानिकी के अध्ययन मे हम ध्वनियो के भौतिक शरीर का विश्लेषण करते हैं । वागंगों की स्थिति क्या है, वायु-प्रवाह की गति और मात्रा क्या है—यदि इन बातों की सूचना हमे हो तो हम बता सकते हैं कि कौन-सी ध्वनि उच्चरित हो रही है, हुई है या होनेवाली है । भौतिकी आदि के विद्वान् ही दो तत्त्वों के मिश्रण का परिणाम बता सकते हों, ऐसा नही है । किसी उच्चरित ध्वनि का विश्लेषण करके हम उसके जन्म की सारी प्रक्रिया स्पष्ट कर सकते है । इस प्रकार की छान-बीन विज्ञान की वस्तु होती है । अन्य अनेक विज्ञानो की भाँति भाषिकी में भी स्वनिक प्रयोगशाला होती है, जिसमे अनेक यंत्र होते है । इन यंत्रो की सहायता से ध्वनियों का सूक्ष्मतम और शुद्धतम विश्लेषण किया जा सकता है । यंत्रों के आधार पर ज्ञात होने के कारण हमारे निष्कर्ष पूर्णतः वस्तु-निष्ठ होते हैं, व्यक्तिनिष्ठता की अवैज्ञानिकता उनमे नहीं आ पाती ।

स्वानिमी मे भी हम कुछ निश्चित मानदडो के द्वारा परिणामों पर पहुँचने का प्रयत्न करते है। यद्यपि स्वानिमी मे हम किन्ही सर्वमान्य सिद्धान्तो तक नहीं पहुँच सके है और इस कारण विभिन्न विद्वानो के विश्लेषणों मे भिन्नताएँ भी मिलती है, किन्तु इससे हमे अन्तिम लक्ष्य की एकता या समानता प्राप्त करने मे कठिनाई नही होती। व्याकरण भी एक ही पद्धति से नही प्रस्तुत किया जाता ; किन्तु उसकी प्रकृति को भी पहचान लिया गया है और विभिन्न पद्धतियो से प्रस्तुत किये जाने के बावजूद हम सत्य का उद्घाटन करने में समर्थ होते है। मर्षस्वानिमी भी इस स्थिति में है। सीमान्तिकी अवश्य एक ऐसी शाखा है जिसकी "वैज्ञानिकता" मे बहुतो को सन्देह है और बहुत से विद्वान् उसे भाषिकी के अन्तर्गत स्थान ही नही देते। सीमान्तिकी के भी वैज्ञानिक अध्ययन के प्रयत्न हो रहे है। अनेक भाषाओं की तुलना करके उनका पारिवारिक सम्बन्ध निश्चित किया जा रहा है और वैज्ञानिक पद्धति से उनकी मूल भाषा की पुनर्रचना का भी प्रयत्न किया जा रहा है। किसी भाषा की प्राचीनता की नाप-जोख के लिए भी वैज्ञानिक ढग अपनाये जा रहे है। भाषिकी के क्षेत्र मे किये जाने वाले नवीनतम अनुसधानो पर वैज्ञानिकता की पूरी और गहरी छाप है। भाषिकी की वैज्ञानिकता मे सन्देह करना अज्ञान का परिचायक है।

४. भाषा की प्रकृति, उसके गठन तथा व्यवहार आदि की वस्तुनिष्ठ परीक्षा करने वाले विज्ञान का नाम **भाषिकी** है।

सातवाँ अध्याय

भाषिकी का उपयोग

१. भाषिकी भारतवर्ष के लिए अपरिचित विषय नही है। भाषा के चिन्तन का प्रारम्भ हमारे देश में वैदिक काल मे ही हो गया था, किन्तु बीच के लम्बे अन्तराल में यह विषय विस्मृत-सा पडा रहा। पिछले दो-तीन सौ वर्षों मे पाश्चात्य देशों ने भाषिकी पर जो-कुछ कार्य किया है, वह इस विषय को गौरव प्रदान करता है। पाश्चात्य देशों के इस भाषिक कार्य को संस्कृत भाषा के ज्ञान ने प्रगति दी और भाषिकी की अनेक शाखाओ में संस्कृत के वैयाकरणो का कार्य आज भी आदर्श माना जायगा। इधर के वर्षों मे भारतवर्ष में भाषिकी की गतिविधियाँ बढी है और यह पाश्चात्य देशों के प्रभाव तथा योग से हुआ है। अनेक विश्वविद्यालयों ने बी० ए० तथा एम० ए० मे एक पूर्ण विषय के रूप मे भाषिकी के अध्यापन की व्यवस्था की है। ऐसी परिस्थिति मे भाषिकी के उपयोग का प्रश्न भी प्राय. उठाया जाने लगा है। यहाँ हम इसी पर विचार करेंगे।

२. किसी भी विज्ञान का सबसे बड़ा और सबसे पहला उपयोग यह होता है कि वह किसी महत्वपूर्ण क्षेत्र में हमारे **अज्ञान को दूर करे** और वस्तु-स्थिति से भलीभाँति परिचित कराए। इस सम्बन्ध में दो रायें नहीं प्रकट की जा सकती कि भाषा मनुष्य-समाज का अत्यधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग है। हमारे समाज के अस्तित्व के लिए जो वस्तु सर्वप्रथम उत्तरदायी है, वह भाषा ही है। भाषा का प्रयोग उठते-बैठते, चलते-फिरते होता ही रहता है। जिस वस्तु से हमारा इतना निकट का और इतना घनिष्ठ संबंध है, उसके बारे मे सर्वांगीण तथा यथार्थ सूचनाएँ प्राप्त करना हमारी प्रमुख आवश्यकता है और भाषिकी यही कार्य करती है। सामान्य व्यक्ति ध्वनियों का उपयोग निरन्तर करता रहता है लेकिन उसे उन ध्वनियों के स्वरूप और उनकी प्रकृति के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं होती। भाषिकी को यह जानकारी होती है क्योंकि स्वानिकी उसे इसी बात की जानकारी कराती है कि ध्वनि तत्वतः क्या है, विभिन्न ध्वनियों में क्या और कितनी मात्रा में साम्य तथा वैषम्य होता है। वैज्ञानिक यदि किसी पेड़ से आम गिरते देखता है तो वह सोचने लगता है कि यह आम नीचे क्यों गिरा, ऊपर क्यों नहीं चला गया। सामान्य व्यक्ति को इस पर हँसी आ जाती है। वह कहता है—"आम ऊपर कैसे जा सकता है; वह

ता नीचे गिरेगा ही ! यह भी कोई पूछने की बात है !" लेकिन वैज्ञानिक को इससे सन्तोष नही होता और अपनी इसी जिज्ञासु वृत्ति के कारण वह धरती की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का पता लगा लेता है, उसकी प्रकृति समझ लेता है, उसके प्रभाव के क्षेत्र की और उसकी मात्रा की नाप-जोख कर लेता है। वक्ता की कही हुई बात श्रोता तक कैसे पहुँच जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भी सामान्य जन हँस पडेगा और कहेगा—"अरे भाई ! वक्ता बोलता है तो श्रोता को सुनाई पड़ेगा ही। इसमे भी कोई पूछने की बात है !" लेकिन वैज्ञानिक को इससे सतोष नही होता; वह इसकी छान-बीन करता है और साचारिकी में हमे अपने निष्कर्षों से परिचित कराता है। ध्वनियो की कार्यकारिता का स्वरूप क्या है, भाषा की कार्यकारिता में प्रत्येक ध्वनि का स्तर क्या है, भिन्न उच्चारों की भिन्नता के लिए ध्वनियाँ किस प्रकार उत्तरदायी होती है—इसका विवेचन भाषिक स्वानिमी के अन्तर्गत करता है। प्रत्येक उच्चार का कुछ अर्थ होता है। इस अर्थ के लिए कौन तत्त्व उत्तरदायी है ? 'करिए' और 'किया' दोनो में ही हमे 'करना' क्रिया की उपस्थिति का आभास होता है यद्यपि उनमे से एक का पूर्वांश 'क्र' है और दूसरे का 'कि'। इन दोनो में भिन्नता के बावजूद जिस एकता के दर्शन हम करते है, वह क्या है, क्यो है और किस प्रकार है ? इन प्रश्नों का उत्तर हमे मर्फविज्ञान देता है। वाक्य में शब्दों की स्थिति क्या होती है ? क्या शब्दो के स्थान मे परिवर्त्तन करना सभव है ? यदि हाँ तो किस सीमा तक ? इस स्थान-परिवर्तन का प्रभाव क्या होता है ? किसी वाक्य का अर्थ यदि हमें द्विविधाजनक लगता है तो ऐसा क्यो है और किस प्रकार है ? इन प्रश्नो का उत्तर हमे वाक्य-विज्ञान देता है। यदि भाषा अर्थ का द्योतन न करे तो उसके अस्तित्व की आवश्यकता ही नही रहेगी। इस अर्थ की प्रकृति क्या है और उसका स्वरूप क्या है—इन प्रश्नो का उत्तर हमे सीमान्तिकी से मिलता है। भाषा के सघटक तत्वों की ही नही, भाषा के जीवन और उसके व्यवहार की भी परीक्षा भाषिकी में की जाती है। इस प्रकार भाषिक पूर्णरूपेण भाषा का विशेषज्ञ होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि वह अनेकानेक भाषाएँ बोल और लिख लेता है। जिस प्रकार यक्ष्मा का विशेषज्ञ यक्ष्मा के सारे लक्षण जानता है, लेकिन यह आवश्यक नही है कि वह यक्ष्मा से ग्रस्त रह चुका हो ; उसी प्रकार भाषा का विशेषज्ञ भाषिक भाषा के सारे लक्षण जानता है लेकिन यह आवश्यक नही है कि उसे अनेकानेक भाषाएँ स्वयं आती ही हो।

३. भाषिकी का सांगोपाग अध्ययन करके भाषा का विशेषज्ञ बनने के बजाय यदि हम दैनिक व्यवहार की उपयोगिता की दृष्टि से भाषिकी का सामान्य अध्ययन करना चाहते है तो इससे हमें भाषा के प्रति **वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित** करने मे सहायता मिल ही सकती है। भाषा के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिपूर्ण विचारों

का निराकरण इससे हो सकता है। हमारे देश के एक नेता ने कुछ समय पहले कहा था—"यह महान् दु:ख की बात है कि संस्कृत एक पूर्णतः मृत भाषा हो चुकी है।" वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त कर चुकने पर इस बात से किसी को दुःख होने का या किसी को सुख होने का प्रश्न नहीं उठेगा क्योंकि हमें यह ज्ञान हो जायगा कि संस्कृत जिस अर्थ में 'मृत' है, उस अर्थ में संसार की सारी पुरानी भाषाएँ 'मृत' हो चुकी है, आज की सारी भाषाएँ 'मृत' हो जायँगी और आगे भी दुनियाँ मे ऐसी कोई भाषा नही होगी जो 'मृत' न हो जाय। इसका सीधा-सा कारण यह है कि संसार की सारी भाषाएँ परिवर्त्तनशील है और परिवर्त्तित होते-होते कोई भाषा जब अत्यधिक भिन्न रूप ग्रहण कर लेती है तो उसे हम एक नई भाषा (या भाषाओं) का नाम दे देते है और उसके पुराने रूप को 'मृत' घोषित कर देते है। इस प्रसंग मे 'मृत' शब्द का अर्थ 'परिवर्त्तित' होता है। इसलिए उक्त प्रसंग मे 'मृत' शब्द के प्रयोग से किसी भाषिक को कोई क्लेश नहीं होगा क्योंकि वह 'मृत' शब्द का अर्थ इस प्रसंग में समझता है। किन्तु भाषिकी के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रहित सामान्य संस्कृतानुरागी को इस 'मृत' शब्द पर आपत्ति हो सकती है क्योंकि वह इसके साथ कुछ बुरा और अवमाननापूर्ण भाव संलग्न पाता है। संस्कृत के एक अध्यापक ने इसी प्रकार की प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हुए संस्कृत को 'जीवित' बताने का प्रयत्न किया है। स्पष्ट ही, उनके लिए 'जीवित' अच्छा और सुखद भाव है तथा 'मृत' बुरा और दुःखद। मनुष्य के साथ इन शब्दों का प्रयोग एक अर्थ देता है और भाषा के साथ दूसरा—इस बात का पता उन्हे नहीं है। भाषा के साथ 'मृत' शब्द का प्रयोग देखकर दुःखी होना उसी प्रकार की बात है जैसे कोई किसी लट्टू को देखे और दुःखी हो जाय कि यह तो कभी लाल हो जाता है, कभी पीला हो जाता है, कभी नीला हो जाता है, कभी हरा हो जाता है और कभी इसमें इन्द्रधनुषी रंगों की समन्वित छटा दिखने लगती है। रंगों का यह खेल किसी-किसी को मनोरम भी लगता है। भाषाओं का परिवर्त्तन (उपर्युक्त प्रकार की 'मृत्यु') भाषिक को भी बड़ा मनोरम लगता है। वह देखता है कि ध्वनियों में, शब्दों मे और अर्थों में कैसे-कैसे परिवर्त्तन हो रहे है। वह इन परिवर्त्तनों के नियम खोजता है और उन नियमों का विश्लेषण करके आनन्दित होता है। भाषिकी का सामान्य अध्ययन करने वालो को यह आनन्द नही मिलेगा; लेकिन उनकी समझ में यह भी आ जायगा कि दुःखी होना अज्ञानपूर्ण है। इस प्रकार का वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हो जाने से भाषा के प्रयोक्ता के रूप में भाषा पर जिस प्रकार का और जितना अधिकार होना चाहिए, हो सकेगा।

४. इस प्रकार का वैज्ञानिक दृष्टिकोण किसी देश की **भाषायी समस्याओं का** हल भी है। अपनी-अपनी मातृभाषा के प्रति हमारे मन में जो भावान्ध अनुराग होता है और जिसके कारण हम अपने प्रदेश, देश और विश्व की अन्य भाषाओं से

वैसे लगाव का अनुभव नही कर पाते, भाषिकी का अध्ययन उसे सन्तुलित करके हमे यथार्थ धरातल पर लाता है और विविध समस्याओ को उनके सच्चे परिप्रेक्ष्य मे हमारे सामने प्रस्तुत करता है। हमारे कहने का तात्पर्य यहाँ यह नहीं है कि भाषिकी का अध्ययन करते ही मनुष्य सारी संकीर्णताओं और सारे असन्तुलनो से मुक्त हो जाता है और उसमे सहसा तटस्थता, उदार मानवता तथा बौद्धिक ईमानदारी का उदय हो जाता है। भारतवर्ष की भाषायी समस्या पर कुछ भाषिको के जो वक्तव्य मुझे दिखाई दिये है, इनके पीछे उपर्युक्त सारे गुणो का अस्तित्व मुझे संदिग्ध लगा है। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि इन गुणो के अर्जन मे भाषिकी का अध्ययन सहायक होता है; भाषिकी के अध्ययन के बिना भाषा के सबंध मे उपर्युक्त गुणों का अर्जन कठिन है और इन गुणो के बिना भाषायी समस्याओ का सकुचित भावात्मक के बजाय बौद्धिक रूप से किया गया हल प्रस्तुत करना कठिन है।

५. जो लोग नई भाषाएँ सीखते है, उनको भाषिकी के अध्ययन से बड़ी सहायता मिलती है। सामान्य शिक्षार्थी को किसी अपरिचित भाषा में मिलने वाले तत्त्व पूर्णतः अपरिचित होते हैं और वह उन्हे एक-एक कर ग्रहण करता है। भाषिकी की शिक्षा पाये हुए व्यक्ति को भाषा के सामान्य सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे जानकारी होती है, भाषा के स्वरूप और व्यवहार का पता उसे होता है; इसलिए किसी भी नई भाषा का अध्ययन करते समय उसे अपने किन्ही पूर्व-सिद्धान्तो का व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ता है और इससे उसे अतिरिक्त रुचि आती जाती है। भाषा के विभिन्न तत्वो में वह सायास या अनायास भाषिक नियम खोजता जाता है, जिससे भाषा सीखने का उसका कार्य अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। सस्कृत का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो को संस्कृत में सर्वत्र रटने की आवश्यकता का अनुभव होता है। रटे हुए रूपों की समानता और विषमता का विश्लेषण करके भाषिकी उनके कारणो पर और उनके व्यवहार की प्रकृति पर प्रकाश डालती है। इससे रटने के शुष्क कार्य मे एक अनोखा रस आ जाता है और रटना रटना नही रह जाता। अँगरेजी भाषा सीखने के लिए भाषिकी का ज्ञान अनिवार्य-सा है। भारतवर्ष में अँगरेजी भाषा का सर्वांगशुद्ध अध्यापन शायद ही कहीं होता हो। जो अँगरेजी हम सीखते है वह अँगरेजों की अँगरेजी नही होती, भारतीय अँगरेजी होती है। हमारी अँगरेजी में अँगरेजों की अँगरेजी से सर्वप्रमुख भिन्नता उच्चारण में होती है। उच्चारण को शुद्ध करने के लिए स्वानिकी का अध्ययन करना पड़ता है; अँगरेजी की ध्वनियो का उच्चारण करने का अभ्यास करना पडता है। अँगरेजी की विशिष्ट वाक्य-रचना की प्रकृति का ज्ञान भी हमें अँगरेजी भाषिकी से होता है। हिन्दी को मातृभाषा के रूप में बोलने वाले विद्यार्थी जब हिन्दी का अध्ययन एक विषय के रूप मे करते हैं तब उनका सम्बन्ध साहित्य से ही होता है; हिन्दी भाषा का अध्ययन उनके लिए

आवश्यक नही माना जाता। फल यह होता है कि बहुधा कुछ प्रयोगों के औचित्य-अनौचित्य का निश्चय करने के लिए उनके पास कोई साधन नही होता। भाषिकी ही इन प्रसगों मे सहायक हो सकती है। लिखने मे महत्त्व~महत्व, तत्त्व~तत्व, सत्त्व~सत्व, मूर्द्धा~मूर्धा, वृहत्~बृहत्, जागृति~जाग्रति~जागर्त्ति, प्रतिविम्ब~प्रतिबिम्ब, उपर्युक्त~उपरोक्त, अनुगृहीत~अनुग्रहीत आदि विकल्प मिलते है। 'अँगरेज' शब्द तो चार प्रकार से लिखा जाता है :—अँगरेज~अँग्रेज~अग्रेज~अगरेज। भाषिकी यो तो लिखित रूप से सबंध नही रखती और उच्चरित भाषा पर ही विचार करती है तथापि उपर्युक्त प्रकार के विकल्पों मे वह अपना मत प्रकट कर सकती है। वैसे तो संस्कृत जानने वाले लोग उपर्युक्त उदाहरणो मे से कुछ को शुद्ध और कुछ को अशुद्ध घोषित कर देगे; किन्तु भाषिकों का मत सस्कृतज्ञो से भिन्न भी हो सकता है। वह विशेष क्षमता भाषिक को ही प्राप्त है कि वह उपर्युक्त प्रकार के विकल्पो पर समग्र सप्रयोजन दृष्टियों से विचार कर सके। इस प्रकार की जानकारी देकर हिन्दी आदि परिचित भाषाओ पर प्रकाश डालकर भाषिकी हमे नई भाषाएँ तो नहीं सिखाती; किन्तु **ज्ञात भाषा के सम्बन्ध में नई बातें** अवश्य सिखाती है। हिन्दी, अँगरेजी या किसी भी भाषा का अध्ययन करने वाले व्यक्ति के लिए भाषिकी से अपरिचित रहना एक अपूरणीय क्षति है।

६ भाषिकी के अध्ययन से भाषा के सम्बन्ध में हमारे अन्ध-विश्वास समाप्त होते हैं, भाषा को हम उसके वास्तविक स्वरूप में पहचानते है और उसे अभिव्यक्ति का एक साधन-मात्र मानते है। इस कारण भाषा में यथेच्छ और आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन करने का साहस भाषिकों में आ जाता है। सामान्य जन सामान्यतः ऐसा करने की नही सोच सकता, वह लीक पर चलता रहता है। वैयाकरण भी व्याकरणिक सम्मति देते समय परम्परा पर आश्रित होता है। भाषिक में ही यह सामर्थ्य होता है कि वह भाषा में किसी भी सीमा तक **निर्माण और परिवर्त्तन** कर ले। संसार की भाषाओं का अध्ययन करके भाषिकों ने भाषाओं की प्रकृति का विश्लेषण किया, उनमें पाई जाने वाली अनियमितताओं से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का अनुभव किया और यह निश्चय किया कि एक अत्यन्त सरल और पूर्णतः नियमित भाषा का निर्माण किया जाय, जिसे सीखने में किसी को कठिनाई न हो और जिसे विश्वभाषा के रूप में अपनाया जा सके, ताकि मानव-मात्र समीप आए। इस प्रकार विश्वभाषाओं का रूप ग्रहण करने के उद्देश्य से निर्मित वोलापुक, एस्पेरैन्तो, ईडियम न्यूट्रल तथा ईडो आदि भाषाओं में एस्पेरैन्तो सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस प्रकार समूची भाषाओं का निर्माण कृत्रिम निर्माण का अनोखा उदाहरण है। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने संस्कृत से अविकल रूप मे आदत्त 'ऐतिहासिक', 'भौगोलिक' आदि शब्दों को देखकर यह सोचा कि हिन्दी सस्कृत से अनेक बातों में भिन्न है, इसलिए उपर्युक्त प्रकार के

शब्दों में परिवर्त्तन कर दिया जाय तो कोई हानि नही है§ । उन्होंने इनके लिए 'इतिहासिक', 'भूगोलिक' आदि रूप प्रस्तावित किये । इस प्रस्ताव के पीछे भावना यह थी कि सज्ञा-धातु में /-इक्/ प्रत्यय जोड़ दिया जाय और इससे धातु के रूप पर कोई प्रभाव न पड़े । निश्चय ही इस परिवर्त्तन से बडी सरलता हो जाती है ; किन्तु इस प्रकार का परिवर्त्तन कोई भाषिक ही कर सकता है, वैयाकरण अथवा सामान्य जन यह साहस नही कर सकता ।

मूलत इस प्रकार का निर्माण और परिवर्त्तन सामाजिक सुविधा के दृष्टिकोण से स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है ; क्योकि इसमें नियमित-अनियमित किसी भी प्रकार के पुरातन से चिपके रहने की भावना की दासता से मुक्ति पा ली गई है । किन्तु व्यावहारिक रूप में यह देखा गया है कि ऐसे प्रयत्न सफल नहीं हो पाते । अपनी प्रसिद्धि और सरलता के बावजूद एस्पेरैन्तो एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ सकी । डॉ० बाबूराम सक्सेना के परिवर्त्तन के सुझाव को किसी ने भी स्वीकार नही किया । और तो और, स्वय डॉ० सक्सेना अपने सुझाव का कड़ाई के साथ पालन नही कर सके । 'सामान्य भाषाविज्ञान' की जिस भूमिका मे उन्होने 'इतिहासिक', 'भूगोलिक' आदि रूपो का प्रस्ताव किया, उसी मे उन्होने *मूलिक तथा *परिभाषिक के बजाय परम्परागत 'मौलिक' तथा 'पारिभाषिक' रूपो का प्रयोग किया है । पुस्तक के प्रथम तीन पृष्ठो पर ही *विज्ञानिक, *मुखिक और *निसर्गिक के बजाय 'वैज्ञानिक', 'मौखिक' और 'नैसर्गिक' का प्रयोग मिलता है ।

सैद्धान्तिक रूप से इस प्रकार के कार्य में यह त्रुटि पाई गई कि इसमें भाषिकी के कार्य-क्षेत्र से बाहर जाने का प्रयास हुआ है । भाषिकी का कार्य केवल अन्वीक्षण है, निर्माण या परिवर्त्तन नही । इससे तो भाषा की स्वाभाविक विकासगति में बाधा पहुँचती है और यह भाषिक के कर्त्तव्य का ठीक उलटा है ।

---

§डॉ० सक्सेना के कार्य पर यह आपत्ति की जा सकती है कि उन्होंने धातु-प्रत्यय को देखा है जबकि भाषा का प्रयोग करने वाले लोग शब्द को देखते है । 'ऐतिहासिक' शब्द का धातु-प्रत्यय में विश्लेषण करने के स्थान पर हम पूरा शब्द एक इकाई के रूप में सीख लेते हैं, यह बात सही है लेकिन शब्द सीख लेने के बाद तुरन्त ही (शायद साथ-साथ भी) हमें /ऐतिहास्-/ का सम्बन्ध /इतिहास्/ से जोड़ना पड़ता है । उक्त परिवर्त्तन स्वीकार कर लेने से इन दो समपों मे से एक अनावश्यक हो जायगा और इससे निश्चय ही सरलता आएगी । यह कहा जा सकता है कि अभी हम लोगों को इससे कठिनाई होगी ; क्योंकि हमे प्रयत्नपूर्वक अपने शब्दो का सशोधन करना होगा । फलतः 'इतिहासिक', 'भूगोलिक' का प्रयोग करते हुए हम भूल से कभी 'वैज्ञानिक' और 'मौखिक' ही कह जायँगे । यह बात भी सही है ; किन्तु इस प्रकार के परिवर्त्तनों का लाभ सदैव आगामी पीढ़ियो को मिला करता है ।

वास्तव में यह दृष्टिकोण अतिवादी है। यह ठीक है कि भाषिकी का कार्य अन्वीक्षण है; किन्तु भाषिक भाषिक होने के साथ-साथ समाज का एक सदस्य भी होता है। अपनी इस दूसरी हैसियत में उसका यह पुनीत कर्त्तव्य है कि समाज के हित के लिए वह भाषिकी के अपने ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग भी करे। कुछ क्षेत्र तो ऐसे आ जाते है कि निर्माण के बिना काम नही चल सकता। किसी विषय के पारिभाषिक शब्दो का निर्माण ऐसा ही कार्य है। इस पुस्तक मे कुछ परिवर्त्तन भी किये गये है :—'कठ्य' के स्थान पर 'उत्कठ्य' और 'स्वर-त्रिकोण' (वावेल-ट्रैंगिल) के स्थान पर 'स्वर-चतुष्कोण' आदि। अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग करके फिर उनकी अनुपयुक्तता पर प्रकाश डालने के बजाय इस प्रकार का परिवर्त्तन अधिक उचित लगा है।

७. अनेक भाषाओं वाले देश मे भाषिकी का एक सामाजिक उपयोग यह भी होता है कि भाषायी आधार पर राजनैतिक सीमा-निर्धारण करते समय सीमाओं पर के **विवादास्पद क्षेत्रों की भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके वहाँ की भाषा का निश्चय** करके भाषिक तमाम सामाजिक कटुता की सम्भावना समाप्त कर सकता है। इस प्रकार के प्रसंग हमारे देश में कुछ राज्यों के बीच उठ चुके है।

८. भाषिकी **इतिहास पर प्रकाश** डालने मे सहायक होती है। भाषा की सहायता से हम अतीत के गर्भ मे जितनी दूर तक जा सकते है, उतनी दूर तक जाना और किसी भाँति सभव नही है। भाषा के ऐतिहासिक महत्व की जानकारी प्राप्त करना भाषिकी के अध्ययन से ही सभव है। भाषिकी ही यह सिद्ध करती है कि कई भाषाएँ पारिवारिक रूप से सम्बद्ध है अर्थात् उनके बोलने वाले कभी अतीत में एक ही भाषा बोलने वाले समाज के वंशधर है। पारिवारिक रूप से सम्बद्ध भाषाओं का विकास एक ही मूल भाषा से किस प्रकार हुआ है, भाषिकी इसकी सारी प्रक्रिया पर प्रकाश डालती है। यदि लिखित रूप में वह मूल भाषा सुरक्षित है तब तो कोई बात नहीं अन्यथा आधुनिक भाषाओं की तुलना करके उस मूल भाषा की पुनर्रचना कर ली जाती है। भाषाओं का यह पारिवारिक वर्गीकरण भाषिकी की एक महत्वपूर्ण देन है और इसके सहारे इतिहास पर उल्लेखनीय प्रकाश पड़ता है। भाषिकी हमे प्रागैतिहासिक काल तक ले जाती है, जिसके सम्बन्ध मे हमें और कही से सहायता नहीं मिलती। भाषा के अतिरिक्त और कोई साधन ऐसा नही है जो यह बता सके कि रूसी, अँगरेज, अँगरेजी बोलने वाले अमरीकी, जर्मन, फ्रांसीसी, स्वीड, स्पेनी, ईरानी, अफगान आदि भारतीय आर्यों के कुटुम्बी है। भाषाओं की प्राचीनता निर्धारित करने के लिए भाषिकी अनिवार्य है। इस प्रक्रिया से हम यह जान सकते है कि किन्ही दो भाषाओ का सम्पर्क कब हुआ था। प्रागैतिहासिक काल को ऐतिहासिक बनाने में भाषिकी का यह योग-दान उल्लेखनीय है। किसी समाज की परम्परागत सास्कृतिक,

सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियो का प्रतिविम्ब भाषा मे विद्यमान रहता है जिसकी परीक्षा भाषिकी की सहायता से की जा सकती है।

६. धरती की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का पता लगा लेने से हमें ज्ञान के क्षेत्र मे एक उपलब्धि होती है ; भौतिकी का लक्ष्य इतना ही हो तो पर्याप्त है। किन्तु जिज्ञासा की शान्ति के अनन्तर विज्ञानो की उपलब्धियों का उपयोग व्यावहारिक क्षेत्र मे भी किया जाता है। यदि कोई कृत्रिम उपग्रह अन्तरिक्ष में भेजना है या किसी व्यक्ति को बहुत ऊँचे पर्वत पर जाना है तो धरती की क्रमशः कम पड़ती हुई गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का ध्यान रखना पडेगा। इसी प्रकार भाषिकी शुद्ध ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ कुछ **व्यावहारिक कार्य** भी सिद्ध करती है। इस उपयोगात्मक भाषिकी को हम व्यावहारिक भापिकी कह सकते है। व्यावहारिक भाषिकी का कुछ परिचय नीचे दिया जा रहा है।

६·१ जिन भापाओं की अपनी लिपि नहीं होती, उनमें **लिपि का निर्माण** भापिकी करती है। लिपि के निर्माण के पहले हमें इस बात पर विचार करना पडता है कि किसी भाषा मे अर्थभेदक ध्वनियाँ और ध्वनिगुण कौन-कौन से है। प्रत्येक अर्थभेदक ध्वनि तथा ध्वनिगुण के लिए एक लिपिचिह्न का निर्माण किया जाना चाहिए। दूसरी ओर, ऐसे ध्वनिगुणों तथा ध्वनियो के लिए लिपिचिह्नों का निर्माण नही होना चाहिए जो अर्थभेदक नही है। स्वानिमी इन्ही बातो का निश्चय करती है ; इसलिए स्वानिमी को आधार बनाकर किया जाने वाला लिपि-निर्माण वैज्ञानिक तथा पूर्ण होता है। जिन भापाओ के पास अपनी लिपियाँ है, उनका विश्लेषण करके उनकी लिपियो की वैज्ञानिक परीक्षा भाषिकी के सहारे की जा सकती है और उनके **दोषों को दूर** किया जा सकता है।

६.२ पुराने साहित्यकारो की कृतियों की प्रामाणिकता पर कभी-कभी विवाद उठ खड़ा होता है। भाषिकी उस समय की भाषा की परीक्षा करके, उस साहित्यकार की भाषा-प्रकृति का विश्लेषण करके ऐसी कृतियो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में ठोस राय दे सकती है। लिपिको के कारण जिन पाण्डुलिपियो या पुस्तकों के पाठों में विभेद मिलने हैं और जिनकी भाषा की शुद्धता-अशुद्धता का प्रश्न सामने आता है, उनका **पाठ-शोध** भी भाषिकी की सहायता से वैज्ञानिकता के साथ किया जा सकता है।

६·३ भाषा-शिक्षण की जो पद्धति सामान्यतः मिलती है, वह प्रायः एकरूप होती है। भाषा-शिक्षक न तो उस भाषा की स्वाभाविक प्रकृति पर विशेष ध्यान देता है जिसे वह पढ़ा रहा है, न उस भापा की प्रकृति पर जिसे उसके शिक्षार्थी मातृभाषा के रूप में बोलते है। परिणाम यह होता है कि यह सारा शिक्षण-क्रम बडे अवैज्ञानिक तथा कृत्रिम ढंग पर चलता है और शिक्षार्थी को अपना अध्ययन नीरस लगने

लगता है। सबसे बड़ी हानि यह होती है कि शिक्षार्थी का बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। भाषिकी **भाषा-शिक्षण** की वैज्ञानिक पद्धति विकसित करती है। प्रत्येक भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उसके लिए विशेष रूप से पाठ्य-सामग्री तैयार की जाती है और उस भाषा को भी ध्यान में रक्खा जाता है जिसे शिक्षार्थी मातृ-भाषा के रूप मे बोलते है। ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि शिक्षार्थी नई भाषा को शीघ्रातिशीघ्र सीखें और स्वाभाविक रूप में सीखे। यदि हमें हिन्दी भाषा पढ़ानी है तो हिन्दी की पाठ्य-सामग्री किसी भाषिक से तैयार करानी चाहिए जो हिन्दी की नब्ज जानता हो। इस प्रकार की पाठ्य-सामग्री भी सभी भाषाओ के लिए समान रूप से उपयोगी नहीं होगी। यदि रूसियो को और अँगरेजो को हिन्दी पढाई जाती है तो दोनों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से पाठ्य-सामग्री तैयार की जायगी। एक भाषा को ध्यान में रखते हुए दूसरी भाषा के व्याकरण तैयार किये जाते है, जिन्हें **एकान्तरण व्याकरण** कहा जाता है। वस्तुतः भारतवर्ष में हिन्दी, अँगरेजी, सस्कृत आदि किसी भी देशी-विदेशी भाषा को पढ़ाने वाले अध्यापको के लिए भाषिकी का व्यवस्थित अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना हमारे विद्यार्थियो का समय, धन, श्रम अनावश्यक रूप से बरबाद होता रहेगा और उनकी बौद्धिक क्षमता का यथेष्ट विकास नहीं हो सकेगा। यह एक गंभीर राष्ट्रीय क्षति है, जिसे भाषिकी का व्यापक उपयोग ही दूर कर सकता है।

९·४ मनुष्य की **उच्चारण-विषयक शारीरिक कमियों को** दूर करने मे स्वानिकी उपयोगी होती है। ध्वनियों के निर्माण के विषय मे स्वानिकी से पूरी जानकारी प्राप्त करके चिकित्सा-शास्त्री उसका अपने ढंग से उपयोग करते है।

९·५ ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रकार के **यंत्रों के निर्माण** में स्वानिकी का आधार उपादेय होता है। ग्रामोफोन, टेपरिकार्डर, रेडियो, टेलीफोन आदि का स्वरूपोत्कर्ष स्वानिकी की सहायता से ही होता है और हो सकता है। ध्वनियाँ किस प्रकार अत्यंत स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ सकती है; उन्हें किस प्रकार अत्यंत स्वाभाविक बनाया जा सकता है; उनकी प्रेषणीयता की मात्रा में किस प्रकार वृद्धि हो सकती है—इस प्रकार की बातों का उत्तर देने में स्वानिकी सहायक होती है।

९·५ अनेक विश्व-संस्थाओं तथा राष्ट्रीय सस्थाओं की स्थापना के साथ-साथ यह बात आवश्यक होती जाती है कि एक भाषा का अनुवाद एक साथ अनेक भाषाओं में होता जाय। इस कार्य के लिए सुयोग्य और **प्रशिक्षित अनुवादकों** की आवश्यकता होती है। भाषिक इस कार्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता है। भाषिकी की ही सहायता से यह भी संभव हो सका है कि मनुष्य अनुवाद का कार्य नहीं करता; यह कार्य मशीनें करने लगी हैं। भाषिकी की सहायता के बिना इस प्रकार की मशीनों का निर्माण असंभव है।

९·६ आज के युग में भाषाओं का महत्त्व बहुत बढ गया है। भाषिकी यह बताती है कि किस प्रकार के भाषण के लिए किस प्रकार की बाते आवश्यक होती है, ताकि उसका प्रभाव अधिकतम हो। नाटक और सिनेमा के अभिनय में किस प्रकार बोलना चाहिए; धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक व्याख्यान में क्या-क्या होना चाहिए—इस प्रकार की सूचनाएँ भाषिकी दे सकती है। **बोलने और लिखने मे प्रभविष्णुता** की दृष्टि से अन्तर होता है। इन दोनो के सम्बन्ध मे भाषिकी न केवल अलग-अलग सूचनाएँ दे सकती है; वह इन दोनों में प्रभविष्णुता लाने के लिए अलग-अलग प्रशिक्षण भी दे सकती है।

९·७ आज सभी उन्नतिशील राष्ट्रों में टेक्नॉलजी का बोल-बोला है। टेक्नॉलजी के लिए भाषिक अनुसंधान कितने आवश्यक और उपादेय है, इस बात का प्रमाण यह है कि अमरीका आदि विकसित देशो में ही नही, भारत-सरीखे विकासमान देश मे भी **टेक्नॉलजी** के संस्थान भाषिकी के प्रोफेसरों तथा असोशिएट प्रोफेसरों के बिना अधूरे समझे जाते हैं।

आठवाँ अध्याय

भाषिकी की शाखाएँ

१. भाषिकी के दो विभाग भाषा के काल-विस्तार की दृष्टि से किये जाते हैं। यदि समय के किसी एक विन्दु पर (अर्थात् व्यावहारिक रूप में अपेक्षाकृत छोटे काल-खंड की) भाषा का अध्ययन तथा विश्लेषण किया जाता है तो हम उसे **सांकालिक भाषिकी** के अन्तर्गत रखते है। यदि यह काल-खंड अपेक्षाकृत विस्तृत होता है तो ऐसा अध्ययन **कालक्रमिक भाषिकी** कहलाता है। **वर्णनात्मक भाषिकी** और **ऐतिहासिक भाषिकी** सामान्यतः क्रमशः इनके पर्यायों के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्द है; किन्तु कुछ विद्वान् इन्हें अपेक्षाकृत सकीर्ण अर्थ प्रदान करते है। भाषिकी की निम्नलिखित शाखाएँ सांकालिक भी हो सकती है और कालक्रमिक भी। इस प्रकार यह द्विविध वर्गीकरण अपेक्षाकृत व्यापक है और अन्य वर्गीकरणों को इसके अन्तर्गत आना पड़ता है। केवल कालक्रमिक भाषिकी से सम्बन्ध रखने वाली शाखा के रूप में **भाषाकालविज्ञान** उल्लेखनीय है जो भाषाओं की वय का निर्धारण करती है और उनके जीवन में आये हुए आरोहों-अवरोहों का विचार करती है।

२. भाषिकी के विभाग भाषाओं के देश-विस्तार की दृष्टि से भी होते है। यदि देश-विस्तार से भाषाओ की संख्या एकाधिक हो जाती है तो उनकी तुलना पर दृष्टि होने से **तुलनात्मक भाषिकी** का निर्माण होता है। तुलनात्मक भाषिकी कालक्रमिक या सांकालिक हो सकती है; किन्तु सांकालिक होने पर यदि प्रत्येक भाषा के लक्षणो का उल्लेख पृथक्-पृथक् न किया जाय और मिलते-जुलते लक्षणो वाली भाषाओं के वर्ग बनाकर उन वर्गों की तुलना पर बल हो तो इस प्रकार के अध्ययन को **प्रकारविज्ञान** के अन्तर्गत रक्खा जाता है। प्रकारविज्ञान में भाषाओ के प्रकार का विवेचन किया जाता है।

यदि तुलना पर बल न दिया जाय और देश-विस्तार में बोलियों के प्रयोग की खोज-मात्र की जाय, बोलियों का वर्णन किया जाय और बोलियों के प्रसार-क्षेत्र का निर्धारण किया जाय तो हम इसे **बोलीविज्ञान** के अन्तर्गत रखते है। जब बोलियों के भौगोलिक वितरण पर बल दिया जाता है; विविध ध्वनियों, रूपो, अर्थों आदि के प्रसार का संकेत करने वाले मानचित्र तैयार किये जाते हैं तो हम इसे **बोलीभूगोल** की संज्ञा देते है। बोलीभूगोल बोलीविज्ञान का ही अंग है। बोलीविज्ञान भी सांकालिक या ऐतिहासिक हो सकता है।

३. भाषा की पाँच उपव्यवस्थाओं के अध्ययन पाँच नामों से अभिहित किये जाते हैं :—**स्वानिकी, स्वानिमी, व्याकरण, सर्वस्वानिमी और सीमान्तिकी**। इनका परिचय पीछे दिया जा चुका है। चूँकि ये भाषा के अंगों के अध्ययनो के नाम है; इसलिए किसी भी भाषा का अध्ययन किया जाय, सारे या कई अंगों का या किसी-न-किसी अंग का ही अध्ययन किया जायगा। किसी भी भाषा के पूर्ण अध्ययन के लिए इन पाँचों ही अंगो का अध्ययन आवश्यक है। यदि किसी विशेष भाषा के अध्ययन का प्रसंग न हो बल्कि इन अंगो की सामान्य प्रकृति का सैद्धान्तिक विवेचन हो तो ऐसा अध्ययन सांकालिक-कालक्रमिक वर्गीकरण से भिन्न रक्खा जाना चाहिए (क्योंकि वह किसी निश्चित समय-विन्दु की भाषा का अध्ययन नही करता; उसके सामान्य लक्षण किसी भी समय की भाषा पर लागू हो सकते है)।§ सांकालिक-कालक्रमिक वर्गीकरण का प्रयोग तब करना चाहिए जब किसी विशेष भाषा या भाषाओं के विवेचन का प्रसंग हो।

इस सदर्भ में यहाँ इतना और उल्लेख किया जा सकता है कि ध्वनि-स्तर पर अर्थभेदक तत्वों का अध्ययन करने वाली कोपेनहैगेन स्कूल की शाखा• का नाम **ग्लासिमी** है। इसे हम स्वानिमी का ही एक प्रकार का रूप मान सकते हैं।

भाषिकी की दो शाखाएँ और है जो व्याकरणिक उपव्यवस्था के अन्तर्गत आती है। **कोशविज्ञान** हमे कोश-निर्माण के संबध मे वैज्ञानिक जानकारी देता है। कोश मे संगृहीत सामग्री व्याकरणिक उपव्यवस्था के स्तर से ली जाती है क्योंकि उसमे शब्दों का सकलन होना है और उनकी वाक्य-व्यवहार की प्रकृति का प्रतिविम्ब होता है। उनके अर्थ का निश्चय इसे सीमान्तिकी से भी संबद्ध करता है; किन्तु चूँकि किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोग की समस्त विभिन्न संभावनाओं से पृथक् कुछ नही होना, इसलिए इसे केवल व्याकरणिक उपव्यवस्था के अन्तर्गत रखना अनुचित नहीं है। कोश-निर्माण मे भी सांकालिक और कालक्रमिक दोनों ही दृष्टियाँ हो सकती हैं। **व्युत्पत्तिशास्त्र** शब्दो के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करता है और उन्हें तत्सम, तद्भव आदि कोटियों में रखता है। वास्तव में हमारे उपर्युक्त विवेचन में इसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नही है; क्योंकि ऐतिहासिक भाषिकी शब्दों के ऐतिहासिक विकास का भी अध्ययन करती है; ध्वनि, वाक्य और अर्थ आदि के

---

§किन्तु चूँकि इसमे भाषा की परिवर्त्तनशीलता के नियमों का विवेचन नही होना अर्थात् एक ही भाषा एक हजार वर्ष में किस प्रकार परिवर्तित होती चलती है, इसका निर्धारण नही होता इसलिए यह वर्गीकरण लागू ही करना हो तो इसे सांकालिक कहना चाहिए (क्योंकि यह किसी एक विशिष्ट समय-विन्दु के लिए न सही, किसी भी समय-विन्दु के लिए तो यथार्थ होता ही है)।

ही विकास के विवेचन से संतुष्ट नही हो जाती। फिर भी अत्यधिक प्रचलित होने के कारण इस शब्द का उल्लेख यहाँ कर दिया गया है।

४. भाषिकी की उपर्युक्त विभिन्न शाखाओं का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त शाखाएँ भाषिकी के विभिन्न आधारों पर विभाजन का परिणाम है। जहाँ तक महत्व का सबंध है, प्रत्येक शाखा का समान महत्व है। इसलिए किन्हीं शाखाओं को प्रधान और किन्ही को गौण कहना अवैज्ञानिक तथा भ्रामक है।

नवाँ अध्याय

भाषिकी का अन्य विषयों से सम्बन्ध

१. **व्याकरण** से भाषिकी का बड़ा अभिन्न सम्बन्ध है। प्रत्येक भाषा का अपना अलग व्याकरण होता है। व्याकरण निर्मित करने के मूल सिद्धान्त सभी भाषाओं के लिए यथार्थ होते है और इन्ही मूल सिद्धान्तों के संचय को हम भाषिकी कहते है। यही कारण है कि भाषिकी को 'व्याकरण का व्याकरण' कहा गया है। सामान्य जन के शब्दों मे कहे तो व्याकरण अन्धा होता है, वह अपने कार्यो का औचित्य-अनौचित्य सिद्ध करने और उनका विश्लेषण करने नहीं बैठता। वह किसी भी भाषा का वर्णन कर देता है और लोगों को आँख मूँदकर उसका अनुवर्त्तन करने के लिए प्रेरित करता है। भाषिकी व्याकरण की आँख है, जो व्याकरण के कार्यो का निरीक्षण किया करती है। यदि व्याकरण कहता है कि अमुक भाषा में अमुक वाग्भाग है और अमुक व्याकरणिक कोटियाँ है तो भाषिकी इसके पहले यह बता चुकती है कि वाग्भागों का निर्धारण और व्याकरणिक कोटियो की स्थापना कैसे करनी चाहिए। किन्तु उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नही लगाना चाहिए कि भाषिकी और व्याकरण में केवल कारण-कार्य अथवा शासक-शासित का संबध है। इनका संबंध अंगी-अंग का भी है। व्याकरण स्वयं भाषिकी की उपज है और उसका एक भाग है।

२. **लिपिशास्त्र** से भाषिकी का सबंध है। भाषिकी भाषा का विश्लेषण करती है और अपने निष्कर्षो को अंकित करने के लिए लिपि का सहारा लेती है। भाषिक कार्य के लिए लिपि का सफलतम उपयोग हो सके, यह देखना लिपिशास्त्र का कार्य है। पुरानी भाषाओ का जो रूप हमें ऐतिहासिक अध्ययन के निमित्त आज प्राप्त होता है, वह लिपि के कारण ही। पुरानी भाषाओं की ऐसी सामग्री यदि किसी अपरिचित लिपि में होती है तो उसे पढ़ना लिपिशास्त्र की सहायता से ही संभव होता है। भाषिकी के अध्ययन से लिपि-निर्माण तथा लिपि-सशोधन के लिए लिपिशास्त्री को आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त हो जाती है।

३. **साहित्य** भी भाषिकी से सबंध रखने वाला विषय है। साहित्य का साधन भाषा है और भाषिकी हमें भाषा पर अधिकार प्रदान करती है। भाषिकी का अध्ययन करने के बाद हमें साहित्य में अपनी अभिव्यक्ति को पुष्ट करने का अवसर मिलता है। प्राचीन साहित्य के शब्दों तथा रूपों को समझने में भी भाषिकी सहायक होती है। पाठ-शोध के लिए तो भाषिकी आवश्यक है ही। साहित्य भी भाषिकी के

लिए सहायक होता है। ऐतिहासिक भाषिकी के लिए प्राचीन और मृत भाषाओ की आवश्यकता पड़ती है और ऐसी भाषाएँ हमें लिखित रूप में साहित्य के माध्यम से ही प्राप्त होती हैं। मौखिक परम्परा से चला आ रहा लोक-साहित्य हमे भाषा के कुछ ऐसे रूप प्रदान करता है जो बोलचाल की सामान्य भाषा में प्राप्त नहीं होते। लिपिबद्ध हो जाने पर साहित्य भाषा की स्वाभाविक परिवर्त्तनशीलता को भी कुछ-न-कुछ प्रभावित करता है। इस प्रकार के प्रभाव की दिशा और मात्रा का अध्ययन हमारे सामने भाषिकी का एक नया रूप उद्घाटित करता है।

४. **शरीरविज्ञान** से भाषिकी की अन्य शाखाओ की अपेक्षा स्वानिकी का अधिक निकट का सबध है। ध्वनियों के उच्चारण की प्रक्रिया समझने के लिए हमे वागगों पर विचार करना पड़ता है और वागगों के संबंध मे आवश्यक जानकारी हमे शरीरविज्ञान में मिलती है। औच्चारिकी के अतिरिक्त श्रौतिकी से भी शरीरविज्ञान का संबंध है क्योंकि श्रवण-विधि की शारीरिक प्रक्रिया पर शरीरविज्ञान ही प्रकाश डाल सकता है। मुख-मुख अर्थात् प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति शब्दों के रूप-परिवर्त्तन के लिए उत्तरदायी ठहराई जाती है। मुख-मुख की प्रवृत्ति की प्रकृति तथा कारणों पर शरीरविज्ञान ही प्रकाश डाल सकता है। वागंगों की शरीरवैज्ञानिक स्थिति पर प्रकाश डालने में स्वानिकी सहायक होती है।

५. सांचारिकी का घनिष्ठ संबंध **भौतिकी** से है। ध्वनि-तरंगों का विश्लेषण एक ऐसा विषय है जिसमें दोनो की ही रुचि है। सांचारिकी के अध्ययन में काम देने वाले अनेक यत्र भौतिकी के लिए भी आवश्यक है।

६. बोलना, सुनना और समझना ऐसी क्रियाएँ हैं जिनके लिए मन की स्थिति भी एक ध्यान में रखने वाली बात है। किसी परिस्थिति में हम क्या बोलते है, यह हमारी मन.स्थिति पर निर्भर करता है। सुनने के लिए भी हमारी मन स्थिति का ठीक होना आवश्यक है और किसी बात को सुनकर हम उसे किस प्रकार समझते है, यह तो मनोविज्ञान का विवेच्य है ही। इस प्रकार **मनोविज्ञान** से भी भाषिकी का निकट संबंध है। उच्चारण के पहले और श्रवण के बाद मनोविज्ञान का क्षेत्र आता है। किसी शब्द के अर्थ को हम क्रमशः किस प्रकार अर्जित करते चलते है, सीमान्तिकी के इस प्रश्न पर मनोविज्ञान प्रकाश डाल सकता है। मनोविज्ञान के लिए भाषिकी भी सहायक होती है क्योंकि किसी व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक परीक्षा के लिए उसकी भाषा की परीक्षा भी की जाती है और भाषा की परीक्षा में भाषिकी सहायता देती है।

७. **इतिहास** को भाषिकी की देन यह है कि वह भाषा की परीक्षा करके इतिहास के अन्धकारपूर्ण युग पर प्रकाश डालती है। भाषा की सर्वांगीण परीक्षा इतिहास को या तो ऐसी जानकारी देती है जो वैसे उसे सुलभ नहीं होती अथवा अन्य साधनों से सुलभ जानकारी का खंडन-मंडन करती है। भाषाओं का पारिवारिक

वर्गीकरण इतिहास के एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय का निर्माण करता है। किसी भाषा की ध्वनि-प्रकृति और शब्दावली का अध्ययन उस भाषा के बोलने वालो के भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पर अद्वितीय प्रकाश डाल सकता है।

८. **भूगोल** का सबध भी भाषिकी से है। भाषा के विकास पर किन भौगोलिक तत्वो ने प्रभाव डाला है, इस बात का पता भाषिकी को भूगोल की सहायता से लग सकता है। भाषाओ के प्रसार का अध्ययन और उनका क्षेत्र-निर्धारण भाषिकी और भूगोल को किस प्रकार एक कर देता है, इसका सबसे बडा प्रमाण बोली-भूगोल है।

९. **समाजविज्ञान** को भाषिकी की देन केलल यही नही है कि वह समाज के विधायक तत्व भाषा पर विचार करती है, वह विभिन्न सामाजिक उपयोगो के लिए भाषा के प्रयोज्य स्वरूपो की विभिन्नता पर भी प्रकाश डालती है। समाजविज्ञान इस विभिन्नता के कारणो तथा परिस्थितियो को समझाने की चेष्टा करता है। भाषा का सांकालिक और कालक्रमिक अध्ययन समाज की परिस्थितियो का चित्र प्रस्तुत करता है तथा समाजविज्ञान भाषा के सांकालिक प्रयोग और कालक्रमिक परिवर्तन पर प्रकाश डालता है।

१०. **नृविज्ञान** से भाषिकी का कैसा सबंध है, इसका आभास इसी से मिल जाना चाहिए कि विदेशों के कई विश्वविद्यालयो मे एक ही व्यक्ति दोनों विषयों का प्रोफेसर हो सकता है और अनेक सुप्रसिद्ध भाषिक वस्तुतः नृविज्ञानी है। नृविज्ञान के अध्ययन की व्यवस्था जहाँ की जाती है, वहाँ भाषिकी के अध्ययन की भी व्यवस्था की जाती है। नृविज्ञान मानव-जाति का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विषय है। इसमे विभिन्न मनुष्य समुदायो की सभ्यता, संस्कृति आदि का अध्ययन किया जाता है। समाज के मनोविज्ञान, समाज के अन्धविश्वासों, समाज की पद्धतियो और त्यौहारों आदि का अध्ययन नृविज्ञान के अन्तर्गत आता है। चूँकि मनुष्य की सस्कृति से भाषा को किसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए नृविज्ञान के साथ (शारीरिक नृविज्ञान के साथ नही बल्कि सास्कृतिक नृविज्ञान के साथ) भाषिकी का अध्ययन अनिवार्य रूप से सबद्ध है। नृविज्ञान पर बल देते हुए भाषिकी का जो अध्ययन होता है उसे नृवैज्ञानिक भाषिकी कहते है। नृविज्ञान के अध्ययन से भाषा की परीक्षा के दृष्टिकोण में व्यापकता आती है, इसीलिए नृविज्ञान का अध्ययन भाषिकी के लिए भी उपयोगी है।

११. **तर्कशास्त्र** से भाषिकी का उतना गहरा सबंध नही है; किन्तु उसकी प्रणाली भाषिकी को प्रभावित करती है। भाषा के विविध अंगों को तर्कशास्त्र अपनी

दृष्टि से देखने की चेष्टा करता है (विशेषतः व्याकरण के स्तर पर) जिसका भाषार्थी मूल्यांकन भाषिकी को कुछ उपयोगी सामग्री दे सकता है।

१२. **गणित** का प्रभाव भाषिकी पर बढ़ता जा रहा है क्योंकि भाषिकी के नियमो को गणित के सूत्रों की भाँति प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाने लगा है। गणितीय भाषिकी तो भाषिकी पर गणित के प्रभाव का ही परिणाम है। गणित को भाषिकी के अध्ययन से कोई विशेष योग-दान नही मिलता है।

१३. **अभियंत्रण** में भी भाषिकी की उपादेयता है; क्योंकि संप्रेषणाभियत्रण को स्वानिकी की उपलब्धियों का ज्ञान आवश्यक है। रेडियो, टेलीफोन आदि का निर्माण और विकास स्वानिकी के ज्ञान को आधार बनाता है। अभियत्रण द्वारा प्राप्त अनेक यत्र बदले मे ध्वनि के वैज्ञानिक विवेचन में अनुपम सहायता पहुँचाते है।

दसवाँ अध्याय

भाषिकी की पारिभाषिक शब्दावली

१. हिन्दी-अँगरेजी

अगोलन	Unrounding
अगोलित	Unrounded
अग्र	Front
अग्र स्वर	Front Vowel
अघोष	Voiceless
अचेतन	Inanimate
अधिकरण	Locative
अनुकरणमूलकतावाद	Imitative (Bow Wow) Theory
अनुक्रम	Sequence
अनुतान	Intonation
अनुनासिकता	Nasality
अनुनासीकरण	Nasalization
अनुरणनमूलकतावाद	Ding Dong Theory
अनुली	Idiolect
अन्तर्केन्द्रिक	Endocentric
अन्तर्प्रत्यय	Infix
अन्त्य	Final
अन्त्यर	Terminal Contour
आरोही-	Rising-
अवरोही-	Fading-
सम-	Sustained-
अन्यपुरुष	Third Person
अन्विति	Agreement, Concord
अपादान	Ablative
अपूर्ण पक्ष	Imperfective Aspect
अभिकाकल	Epiglottis
अभेदक तत्व	Non-distinctive Features

अर्धविवार	Half Opening
अर्धविवृत	Half Open
अर्धसंवार	Half Closing
अर्धसवृत	Half Close
अर्धस्वर	Semi-vowel
अलिजिह्व	Uvula
अलिजिह्वीय	Uvular
अल्पप्राण	Unaspirated
अल्पवचन	Paucal
अवरोही	Falling
अवरोही अन्त्यर	Fading Terminal Contour
अवार्णिक	Non-syllabic
अव्यय	Indeclinable
असंसक्त	Non-contiguous
आकृतिवादी	Structuralist
आघात	Accent
आदान	Borrowing
आद्य	Initial
आधार रूप	Base Form
आप्त रूप	Canonical Form
आरोहावरोही	Rising-falling
आरोही	Rising
आरोही अन्त्यर	Rising Terminal Contour
आवेगी	Interjection
आवेगीवाद	Interjectional (Pooh Pooh) Theory
उच्च सुर	High Pitch
उच्चार	Utterance
उच्चारण-स्थान	Place of Articulation
उत्कंठ	Velum
उत्कंठ्य	Velar
उत्कर्ष	Prominence
उत्कर्षी	Prominent
उत्तम पुरुष	First Person

उत्क्षिप्त	Flapped
उदासीन स्वर	Neutral Vowel
उद्देश्य	Subject
उन्मोच	Release
उपव्यवस्था	Subsystem
एकवचन	Singular Number
एकान्तरण व्याकरण	Transfer Grammar
एकाभिध	Homonym
ऐतिहासिक भाषिकी	Historical Linguistics
ओष्ठ	Lip
औच्चारिक स्वानिकी	Articulatory Phonetics
औच्चारिकी	Articulatory Phonetics
करण	Instrumental
कर्ता	Nominative
कर्तृवाच्य	Active Voice
कर्म	Accusative, Object
कर्मवाच्य	Passive Voice
कल्पक	Component
काकल	Glottis
काकल्य	Glottal
काकल्य स्पर्श	Glottal Stop
कारक	Case
(१) कर्ता-	Nominative-
कर्म-	Accusative-
करण-	Instrumental-
सम्प्रदान-	Dative-
अपादान-	Ablative-
सम्बन्ध-	Genitive-
अधिकरण-	Locative-
संबोधन-	Vocative-
(२) सरल-	Direct-
तिर्यक्-	Oblique-
काल	Tense

भूत-	Past-
वर्तमान-	Present-
भविष्य-	Future-
कालक्रमिक	Diachronic
कालक्रमिक भाषिकी	Diachronic Linguistics
केन्द्रीय	Central
केन्द्रीय उपव्यवस्था	Central Subsystem
केन्द्रीय स्वर	Central Vowel
कोटि	Category
मर्षवैज्ञानिक-	Morphological-
व्याकरणिक-	Grammatical-
कोशविज्ञान	Lexicology
क्रिया	Verb
क्रियाविशेषण	Adverb
खंडीय	Segmental
खंडेतर	Suprasegmental
गणितीय भाषिकी	Mathematical Linguistics
गह्वर	Valley
गोलन	Rounding
गोलित	Rounded
गौण मानस्वर	Secondary Cardinal Vowels
ग्रसनी	Pharynx
ग्रसनीकृत	Pharyngealized
ग्रसनीय	Pharyngeal
ग्लासिमी	Glossematics
घोष	Voice
चेतन	Animate
चेतामंडल	Nervous System
चिह्नक	Marker
जपन	Whisper
जिह्वाग्र	Front of Tongue
जिह्वानोक	Tip of Tongue, Apex
जिह्वापश्च	Back of Tongue, Dorsum

जिह्वाफलक	Blade of Tongue
जिह्वामध्य	Middle of Tongue
जिह्वामूल	Root of Tongue
जीवविज्ञान	Biology
तर्कशास्त्र	Logic
तान	Tone
तालव्य	Palatal
तालुबर्स्व्य	Palato-alveolar
तिर्यक् कारक	Oblique Case
तुलनात्मक	Comparative
तुलनात्मक भाषिकी	Comparative Linguistics
त्रिवचन	Trial
दन्त	Teeth
दन्तोष्ठ्य	Labio-dental
दन्त्य	Dental
दर्वीकास्थियाँ	Arytenoid Cartilages
दीर्घ	Long
दैवीवाद	Divine Theory
दृश्यग्राह	Spectograph
दृश्यलेख	Spectogram
द्वयोष्ठ्य	Bilabial
द्विमर्ष	Diamorph
द्विवचन	Dual Number
द्विस्वर	Diphthong
धातु	Root
ध्वनि	Sound
ध्वनिगुण	Sound-attribute
नपुंसक लिंग	Neuter Gender
नासाद्वार	Velic •
नासिकाविवर	Nasal Cavity
नासिक्य	Nasal
निरनुनासिक	Non-nasalized
निर्बल	Unstressed
नीच सुर	Low Pitch

नृविज्ञान	Anthropology
शारीरिक-	Physical-
सांस्कृतिक-	Cultural-
नृवैज्ञानिक	Anthropological
नृवैज्ञानिक भाषिकी	Anthropological Linguistics
परप्रत्यय	Suffix
पररूपण	Progressive Assimilation
परवृत्त	Consequences
परसर्ग	Postposition
परिवेश	Environment
पश्च	Back
पश्च स्वर	Back Vowel
पक्ष	Aspect
पूर्ण-	Perfective-
अपूर्ण-	Imperfective-
पारिवारिक वर्गीकरण	Genetic (Historical) Classification
पार्श्विक	Lateral
पार्श्विक संघर्षी	Lateral fricative
पुंल्लिंग	Masculine
पुनर्रचना	Reconstruction
पुरुष	Person
उत्तम-	First-
मध्यम-	Second-
अन्य-	Third-
पूरक बंटन	Complementary Distribution
पूर्वप्रत्यय	Prefix
पूर्वरूपण	Regressive Assimilation
पूर्ववृत्त	Antecedents
प्रकारविज्ञान	Typology
प्रकृतिवाद	Naturalistic Theory
प्रतिक्रिया	Reaction
प्रतीक	Symbol
प्रत्यय	Affix
पूर्वप्रत्यय	Prefix

(४) नृवैज्ञानिक-	Anthropological-
(५) गणितीय-	Mathematical-
भूत	Past
भेदक तत्व	Distinctive Features
भौतिकी	Physics
मध्य	Medial
मध्यम पुरुष	Second Person
मर्ष	Morph
मर्षविज्ञान	Morphology
मर्षवैज्ञानिक	Morphological
मर्षस्वानिमिक	Morphophonemic
मर्षस्वानिमिक परिवर्तन	Morphophonemic Change
मर्षस्वानिमी	Morphophonemics
मर्षिम	Morpheme
मर्षिम बंटन	Morpheme Distribution
महाप्राण	Aspirated
मात्रा	Length
मान स्वर	Cardinal Vowels
गौण-	Secondary Cardinal Vowels
मार्षिमिक	Morphemic
मार्षिमी	Morphemics
मुक्त रूप	Free Form
मुक्त वर्ण	Open Syllable
मुक्त विभेद	Free Variation
मुखरता	Sonority
मुख-विवर	Oral Cavity
मूर्धन्य	Retroflex
मूर्धा	Dome
मूल स्वर	Monophthong, Pure Vowel
रचना	Construction
रचना-प्रकार	Construction Type
रूप	Form
मुक्त-	Free-
बद्ध-	Bound-

रूपायन	Inflection
रूपायित	Inflected
रूपायित कोटि	Inflectional Category
लघुतम युग्म	Minimal Pair
लघ्वाघात	Tap
लक्षण	Quality
लिंग	Gender
(१) पुल्लिंग	Masculine-
स्त्रीलिंग	Feminine-
नपुंसक लिंग	Neuter-
(२) चेतन-	Animate-
अचेतन-	Inanimate-
लिपि	Script
लिपिचिह्न	Letter
लिपिशास्त्र	Graphonomy
लुंठन	Rolling
लुंठित	Rolled
वर्गीकरण	Classification
वचन	Number
(१) एक-	Singular-
द्वि-	Dual-
त्रि-	Trial-
बहु-	Plural-
(२) अल्प-	Paucal-
बहु-	Multiple-
वर्ण	Syllable
मुक्त-	Open-
बद्ध-	Closed-
वर्णन्यष्टि	Syllable Nucleus
वर्णनात्मक	Descriptive
वर्णनात्मक भाषिकी	Descriptive Linguistics
वर्तनी	Orthography, Spelling
वर्तमान	Present
वाक्प्रतीक	Vocal Symbol

वाक्य	Sentence
वाक्यविज्ञान	Syntax
वाक्य-शृंखलता	Syntactical Linkage
वाक्यांश	Phrase
वागंग	Organs of Speech
वाग्भाग	Parts of Speech
वाग्यंत्र	Speech Tract
वाच्य	Voice
कर्तृ-	Active
कर्म-	Passive
वार्णिक	Syllabic
विधेय	Predicate
विपर्यय	Metathesis
विभेद	Variation, Variant
विरूपण	Dissimilation
विवार	Opening
विवृत	Open
विवृति	Juncture
वृत्ति	Mood
वैयाकरण	Grammarian
व्यंजन	Consonant
व्यंजनात्मक स्वर	Consonantal Vowel
व्यतिरेक	Contrast
व्यवस्था	System
व्याकरण	Grammar
व्याकरणिक कोटि	Grammatical Category
रूपायित-	Inflectional
चयनात्मक-	Selective
व्यावर्तक	Exclusive
व्यावहारिक भाषिकी	Applied Linguistics
व्युत्पत्ति	Etymology
व्युत्पत्तिशास्त्र	Etymology
शब्द	Word
शरीरविज्ञान	Physiology

शरीरवैज्ञानिक	Physiological
शारीरिक नृविज्ञान	Physical Anthropology
शासन	Government
शिखर	Peak
श्रमपरिहरणमूलकतावाद	Yo-he-ho Theory
श्रुति	Glide
श्रौत	Auditory
श्रौत स्वानिकी	Auditory Phonetics
श्रौतिकी	Auditory Phonetics
सकेतवाद	Gestural Theory
सघटक	Constituent
सघटन	Constitute
सघर्षहीन प्रवाही	Frictionless Continuant
सघर्षी	Fricative, Spirant
सप्रदान	Dative
सप्रेषण	Communication
सप्रेपणाभियंत्र	Communication Engineering
सबध	Genitive
सबोधन	Vocative
समर्ष	Allomorph
सयोजक	Conjunction
सरूपण	Assimilation
संरोहण	Coalescence
सवार	Closing
सवृत	Close
संसक्त	Contiguous
सस्वन	Allophone
सस्वनन	Allophonicization
सज्ञा	Noun
सघोष	Voiced
सम अन्त्यर	Sustained Terminal Contour
सम सुर	Level Pitch
समकालिक	Simultaneous
समाजविज्ञान	Sociology

समावेशी	Inclusive
समीपी सघटक	Immediate Constituents
सम्प्रदान	Dative
सम्प्रेषण	Communication
सम्प्रेषणाभियंत्रण	Communication Engineering
सरल कारक	Direct Case
सर्वनाम	Pronoun
सांकालिक	Synchronic
सांकालिक भाषिकी	Synchronic Linguistics
सांचारिक	Acoustic
सांचारिक स्वानिकी	Acoustic Phonetics
साचारिकी	Acoustics
सास्कृतिक नृविज्ञान	Cultural Anthropology
सांस्वनिकी	Allophonics
सानुनासिक	Nasalized
सानुनासिक स्वर	Nasalized Vowel
साहित्य	Literature
सीमान्तिक	Semantic
सीमान्तिकी	Semantics
सुर	Pitch
(१) उच्च-	High-
नीच-	Low-
सम-	Level-
(२) आरोही-	Rising-
अवरोही-	Falling-
आरोहावरोही-	Rising-falling-
सुर-स्तर	Pitch Level
सूचक	*Referend
सूचन	Reference
सूचन का त्रिकोण	Triangle of Reference
सूच्य	Referent
स्त्रीलिंग	Feminine Gender
स्थान	Place of Articulation
स्पघर्ष	Affricate

स्पर्श	Stop
स्फुरण	Stimulus
स्वन	Phone
स्वनज्ञ	Phonetician
स्वनिक	Phonetic
स्वनिम	Phoneme
स्वनिमन	Phonemicization
स्वनिमज्ञ	Phonemician
स्वर	Vowel
(१) संवृत-	Close-
अर्धसंवृत-	Half-close-
अर्धविवृत-	Half-open-
विवृत-	Open-
(२) अग्र-	Front-
पश्च-	Back-
केन्द्रीय-	Central-
(३) गोलित-	Rounded-
अगोलित-	Unrounded-
(४) मूल स्वर	Monophthong, Pure Vowel
द्विस्वर	Diphthong
(५) व्यंजनात्मक-	Consonantal-
(६) उदासीन-	Neutral-
(७) निरनुनासिक-	Non-nasalized, Oral-
सानुनासिक-	Nasalized-
स्वर-चतुष्कोण	Vowel Triangle
स्वरतंत्रियाँ	Vocal Cords
स्वरयंत्र	Larynx
स्वरसीमा	Vowel-limit
स्वानिमिक	Phonemic
स्वानिकी	Phonetics
औच्चारिक-	Articulatory-
सांचारिक-	Acoustic-
श्रौत-	Auditory-
स्वानिमी-	Phonemics
ह्रस्व	Short

२. अँगरेजी-हिन्दी

Ablative	अपादान
Abstracted	भावानीत
Abstraction	भावानयन
Accent	आघात
Accusative	कर्म
Acoustic	सांचारिक
Acoustic Phonetics	सांचारिक स्वानिकी
Acoustics	सांचारिकी
Active Voice	कर्त्तृवाच्य
Adjective	विशेषण
Adverb	क्रियाविशेषण
Affix	प्रत्यय
Prefix	पूर्वप्रत्यय
Infix	अन्तर्प्रत्यय
Suffix	परप्रत्यय
Affricate	स्पघर्ष
Agreement	अन्विति
Allomorph	समर्प
Allophone	संस्वन
Allophonicization	संस्वनन
Allophonics	सांस्वनिकी
Alveolar	बर्स्व्य
Alveolo-palatal	बर्स्व-तालव्य
Alveolum	बर्स्व
Animate	चेतन
Antecedents	पूर्ववृत्त
Anthropological	नृवैज्ञानिक
Anthropological Linguistics	नृवैज्ञानिक भाषिकी
Anthropology	नृविज्ञान
Physical-	शारीरिक-
Cultural-	सांस्कृतिक-
Apex	जिह्वानोक

Applied Linguistics	व्यावहारिक भाषिकी
Arytenoid Cartilages	दर्वीकास्थियाँ
Articulatory Phonetics	औच्चारिकी, औच्चारिक स्वानिकी
Aspect	पक्ष
Perfective-	पूर्ण-
Imperfective-	अपूर्ण-
Aspirated	महाप्राण
Assimilation	संरूपण
(1) Progressive-	पररूपण
Regressive-	पूर्वरूपण
(2) Contiguous-	ससक्त-
Non-contiguous-	असंसक्त-
Auditory Phonetics	श्रौतिकी, श्रौत स्वानिकी
Back	पश्च
Back of Tongue	जिह्वापश्च
Back Vowel	पश्च स्वर
Base Form	आधार रूप
Bilabial	द्वयोष्ठ्य
Biology	जीवविज्ञान
Blade of Tongue	जिह्वाफलक
Borrowing	आदान
Bound Form	बद्ध रूप
Bow-wow Theory	अनुकरणमूलकतावाद
Canonical Forms	आप्त रूप
Cardinal Vowels	मान स्वर
Secondary—	गौण मानस्वर
Case	कारक
(1) Nominative-	कर्त्ता-
Accusative-	कर्म-
Instrumental-	करण-
Dative-	सम्प्रदान-
Ablative-	अपादान-
Genitive-	संबध-

Locative-	अधिकरण-
Vocative-	संबोधन-
(2) Direct-	सरल-
Oblique-	तिर्यक्-
Category	कोटि
Morphological-	मर्पवैज्ञानिक-
Grammatical-	व्याकरणिक-
Central	केन्द्रीय
Central Subsystem	केन्द्रीय उपव्यवस्था
Central Vowel	केन्द्रीय स्वर
Classification	वर्गीकरण
Close	संवृत
Close Vowel	संवृत स्वर
Closed syllable	बद्ध वर्ण
Closing	संवार
Coalescence	मरोहण
Communication	संप्रेषण
Communication Engineering	संप्रेषणाभियंत्रण
Comparative	तुलनात्मक
Comparative Linguistics	तुलनात्मक भाषिकी
Complementary Distribution	पूरक बटन
Component	कल्पक
Concord	अन्विति
Conjunction	संयोजक
Consequences	परवृत्त
Consonant	व्यंजन
Consonantal Vowel	व्यजनात्मक स्वर
Constituent	संघटक
Constitute	संघटन
Construction	रचना
Construction Type	रचना-प्रकार
Contiguous Assimilation	ससक्त संरूपण
Contrast	व्यतिरेक

Cultural Anthropology	सांस्कृतिक नृविज्ञान
Dative	सम्प्रदान
Dental	दन्त्य
Descriptive	वर्णनात्मक
Descriptive Linguistics	वर्णनात्मक भाषिकी
Diachronic	कालक्रमिक
Diachronic Linguistics	कालक्रमिक भाषिकी
Dialect	बोली
Dialect Geography	बोलीभूगोल
Dialectology	बोलीविज्ञान
Diamorph	द्विमर्ष
Ding Dong Theory	अनुरणनमूलकतावाद
Diphthong	द्विस्वर
Direct Case	सरल कारक
Dissimilation	विरूपण
Distinctive Features	भेदक तत्व
Divine Theory	दैवीवाद
Dome	मूर्धा
Dorsum	जिह्वापश्व
Dual Number	द्विवचन
Endocentric	अन्तर्केन्द्रिक
Environment	परिवेश
Epiglottis	अभिकाकल
Etymology	व्युत्पत्ति, व्युत्पत्तिशास्त्र
Exclusive	व्यावर्तक
Exocentric	बहिर्केन्द्रिक
Extra-long	प्लुत
Fading Terminal Contour	अवरोही अन्त्यर
Falling	अवरोही
Feminine Gender	स्त्रीलिंग
Final	अन्त्य
First Person	उत्तम पुरुष
Flapped	उत्क्षिप्त
Form	रूप

Free-	मुक्त रूप
Bound-	बद्ध रूप
Free Form	मुक्त रूप
Free Variation	मुक्त विभेद
Fricative	संघर्षी
Frictionless Continuant	संघर्षहीन प्रवाही
Front	अग्र
Front of Tongue	जिह्वाग्र
Front Vowel	अग्र स्वर
Future	भविष्य
Gender	लिंग
(1) Masculine-	पुंल्लिंग
Feminine-	स्त्रीलिंग
Neuter-	नपुंसक लिंग
(2) Animate-	चेतन-
Inanimate-	अचेतन-
Genetic Classification	पारिवारिक वर्गीकरण
Genitive	संबंध
Gestural Theory	संकेतवाद
Glide	श्रुति
Glossematics	ग्लासिमी
Glottal	काकल्य
Glottal Stop	काकल्य स्पर्श
Glottis	काकल
Glottochronology	भाषाकालविज्ञान
Government	शासन
Grammar	व्याकरण
Grammarian	वैयाकरण
Grammatical	व्याकरणिक
Grammatical Category	व्याकरणिक कोटि
Inflectional-	रूपायित-
Selective-	चयनात्मक-
Graphonomy	लिपिशास्त्र

Half Close	अर्धसवृत
Half Closing	अर्धसवार
Half Open	अर्धविवृत
Half Opening	अर्धविवार
High Pitch	उच्च सुर
Historical	ऐतिहासिक
Historical Classification	ऐतिहासिक वर्गीकरण
Historical Linguistics	ऐतिहासिक भाषिकी
Homonym	एकाभिध
Idiolect	अनुली
Imitative Theory	अनुकरणमूलकतावाद
Immediate Constituents	समीपी संघटक
Imperfective Aspect	अपूर्ण पक्ष
Inanimate	अचेतन
Inclusive	समावेशी
Indeclinable	अव्यय
Infix	अन्तर्प्रत्यय
Inflected	रूपायित
Inflection	रूपायन
Inflectional Category	रूपायित कोटि
Initial	आद्य
Instrumental	करण
Interjection	आवेगी
Interjectional Theory	आवेगीवाद
Intonation	अनुतान
Juncture	विवृति
Labio-dental	दन्तोष्ठ्य
Language	भाषा
Larynx	स्वरयंत्र
Lateral	पार्श्विक
Lateral Fricative	पार्श्विक संघर्षी
Length	मात्रा
Letter	लिपिचिह्न

Level Pitch	सम सुर
Lexicology	कोशविज्ञान
Linguist	भाषिक
Linguistic (भाषा-विषयक)	भाषायी
Linguistic (भाषिकी-विषयक)	भाषिक,
Linguistics	भाषिकी
(1) Synchronic	साकालिक
Diachronic	कालक्रमिक
(2) Descriptive	वर्णनात्मक
Historical	ऐतिहासिक
(3) Comparative	तुलनात्मक
(4) Anthropological	नृवैज्ञानिक
(5) Mathematical	गणितीय
Lip	ओष्ठ
Literature	साहित्य
Locative	अधिकरण
Logic	तर्कशास्त्र
Long	दीर्घ
Low Pitch	नीच सुर
Lung	फुफ्फुस
Manner of Articulation	प्रयत्न
Marker	चिह्नक
Masculine Gender	पुंल्लिग
Mathematical Linguistics	गणितीय भाषिकी
Medial	मध्य
Metathesis	विपर्यय
Middle of Tongue	जिह्वामध्य
Minimal Pair	लघुतम युग्म
Monophthong	मूल स्वर
Mood	वृत्ति
Morph	मर्ष
Morpheme	मर्पिम
Morpheme Distribution	मर्पिम बंटन

Morphemic	मार्पिमिक
Morphemics	मार्षिमी
Morphological	मर्पवैज्ञानिक
Morphological Category	मर्षवैज्ञानिक कोटि
Morphology	मर्षविज्ञान
Morphophonemic	मर्पस्वानिमिक
Morphophonemic Change	मर्षस्वानिमिक परिवर्तन
Morphophonemics	मर्षस्वानिमी
Multiple Number	बहुवचन
Murmur	भनभनाहट
Nasal	नासिक्य
Nasal Cavity	नासिका विवर
Nasality	अनुनासिकता
Nasalization	अनुनासीकरण
Nasalized	सानुनासिक
Nasalized Vowel	सानुनासिक स्वर
Naturalistic Theory	प्रकृतिवाद
Nervous Syste n	चेतामडल
Neuter Gender	नपुसकलिग
Neutral Vowel	उदासीन स्वर
Nominative	कर्त्ता
Non-contiguous	असमक्त
Non-distinctive Features	अभेदक तत्त्व
Non-nasalızed	निरनुनासिक
Non-syllabıc	अवार्णिक
Noun	मज्ञा
Number	वचन
(1) Singular	एकवचन
Dual	द्विवचन
Trial	त्रिवचन
Plural	बहुवचन
(2) Paucal	अल्पवचन
Multiple	वहुवचन
Object	कर्म

Oblique Case	तिर्यक् कारक
Open	मुक्त, विवृत
Open Syllable	मुक्त वर्ण
Open Vowel	विवृत स्वर
Opening	विवार
Oral	निरनुनासिक
Oral Cavity	मुख-विवर
Organs of speech	वागंग
Orthography	वर्तनी
Palatal	तालव्य
Palato-alveolar	तालु-वर्त्स्य
Parts of speech	वाग्भाग
Passive Voice	कर्मवाच्य
Past	भूत
Paucal Number	अल्पवचन
Peak	शिखर
Perfective Aspect	पूर्ण पक्ष
Peripheral Subsystem	बाह्य उपव्यवस्था
Person	पुरुष
First	उत्तम
Second	मध्यम
Third	अन्य
Pharyngeal	ग्रसनीय
Pharyngealized	ग्रसनीकृत
Pharyngealization	ग्रसनीकरण
Pharynx	ग्रसनी
Phone	स्वन
Phoneme	स्वनिम
Phonemic	स्वानिमिक
Phonemicization	स्वनिमन
Phonemician	स्वनिमज्ञ
Phonemics	स्वानिमी
Phonetic	स्वनिक

Phonetician	स्वनज्ञ
Phonetics	स्वानिकी
Phrase	वाक्यांश
Physical Anthropology	शारीरिक नृविज्ञान
Physics	भौतिकी
Physiological	शरीरवैज्ञानिक
Physiology	शरीरविज्ञान
Pitch	सुर
(1) High	उच्च
Low	नीच
Level	सम
(2) Rising	आरोही
Falling	अवरोही
Rising-falling	आरोहावरोही
Pitch Level	सुर-स्तर
Place of Articulation	स्थान, उच्चारण-स्थान
Plural Number	बहुवचन
Pooh Pooh Theory	आवेगीवाद
Postposition	परसर्ग
Predicate	विधेय
Prefix	पूर्वप्रत्यय
Present	वर्तमान
Progressive Assimilation	पररूपण
Prominence	उत्कर्ष
Prominent	उत्कर्षी
Pronoun	सर्वनाम
Pure Vowel	मूल स्वर
Quality	लक्षण
Reaction	प्रतिक्रिया
Reconstruction	पुनर्रचना
Reference	सूचन
*Referend	सूचक
Referent	सूच्य

Regressive Assimilation	पूर्वरूपण
Release	उन्मोच
Retroflex	मूर्धन्य
Rising	आरोही
Rising Terminal Contour	आरोही अन्त्यर
Rising-falling	आरोहावरोही
Rolled	लुठित
Rolling	लुठन
Root	धातु
Root of Tongue	जिह्वामूल
Rounded	गोलित
Rounding	गोलन
Script	लिपि
Second Person	मध्यमपुरुष
Secondary Cardinal Vowels	गौण मानस्वर
Segmental	खंडीय
Selective Category	चयनात्मक कोटि
Semantic	सीमान्तिक
Semantics	सीमान्तिकी
Semivowel	अर्धस्वर
Sentence	वाक्य
Sequence	अनुक्रम
Short	ह्रस्व
Simultaneous	समकालिक
Singular Number	एकवचन
Sociology	समाजविज्ञान
Sonority	मुखरता
Sound	ध्वनि
Sound Attribute	ध्वनिगुण
Spelling	वर्तनी
Spectogram	दृश्यलेख
Spectograph	दृश्यग्राह
Speech Tract	वाग्यंत्र

Spirant	संघर्षी
Stem	प्रातिपदिक
Stimulus	स्फुरण
Stop	स्पर्श
Stress	बल
Stressed	बली
Structuralist	आकृतिवादी
Subject	उद्देश्य
Subsystem	उपव्यवस्था
Central	केन्द्रीय
Peripheral	बाह्य
Suffix	परप्रत्यय
Suprasegmental	खंडेतर
Sustained Terminal Contour	सम अन्त्यर
Syllabic	वार्णिक
Syllable	वर्ण
Open	मुक्त
Close	बद्ध
Syllable Nucleus	वर्ण-न्यष्टि
Symbol	प्रतीक
Synchronic	सांकालिक
Synchronic Linguistics	सांकालिक भाषिकी
Syntactical Linkage	वाक्य-श्रृंखलता
Syntax	वाक्यविज्ञान
System	व्यवस्था
Tap	लघ्वाघात
Teeth	दन्त
Teeth Ridge	बर्स्व
Tense	काल
Terminal Contour	अन्त्यर
Rising	आरोही
Fading	अवरोही
Sustained	सम

Third Person	अन्यपुरुष
Tip of Tongue	जिह्वानोक
Tone	तान
Transfer Grammar	एकान्तरण व्याकरण
Trial Number	त्रिवचन
Triangle of Reference	सूचन का त्रिकोण
Typology	प्रकारविज्ञान
Unaspirated	अल्पप्राण
Unrounded	अगोलित
Unrounding	अगोलन
Unstressed	निर्बल
Utterance	उच्चार
Uvula	अलिजिह्व
Uvular	अलिजिह्वीय
Valley	गह्वर
Variant	विभेद
Variation	विभेद
Velar	उत्कंठ्य
Velic	नासाद्वार
Velum	उत्कंठ
Verb	क्रिया
Vocal Cords	स्वरतंत्रियाँ
Vocal Symbol	वाक्प्रतीक
Vocative	संबोधन
Voice	घोष
Voice	वाच्य
Active	कर्तृवाच्य
Passive	कर्मवाच्य
Voiced	सघोष
Voiceless	अघोष
Vowel	स्वर
(1) Close	संवृत
Half Close	अर्धसंवृत

Half Open	अर्धविवृत
Open	विवृत
(2) Front	अग्र
Central	केन्द्रीय
Back	पश्च
(3) Rounded	गोलित
Unrounded	अगोलित
(4) Monophthong	मूल स्वर
Diphthong	द्विस्वर
(5) Consonantal	व्यंजनात्मक
(6) Neutral	उदासीन
(7) Nasalized	सानुनासिक
Non-nasalized, Oral	निरनुनासिक
Vowel Limit	स्वर-सीमा
Vowel Triangle	स्वर-चतुष्कोण
Whisper	जपन
Word	शब्द
Yo-he-ho Theory	श्रमपरिहरणमूलकतावाद

परिशिष्ट

१. भाषा क्या है ?

'काव्यादर्श' में कहा है—'वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।' सत्य भी है, आज यदि मानव-समाज के बीच से 'भाषा' उठ जाय तो हमारी क्या स्थिति होगी—इसकी कल्पना भी नही की जा सकती । यह 'भाषा' क्या है, इस प्रश्न का उत्तर सहज नही है ।§

१. गुरु की डाँट खाकर भी रमेश कुछ नहीं बोला किन्तु उसकी निर्दोषता उसकी मूक 'भाषा' से ही सिद्ध हो रही थी । २ मेरे नयनो की 'भाषा' तुम पढ़ ही लोगे, इसलिए तुम्हारे तीर मौन हो जाता हूँ । ३ विहंगों की 'भाषा' मे छिपा, न जाने किस निरुपम का भेद ।

उपर्युक्त उद्धरणो मे मूक भाषा का उल्लेख हुआ है, नयनो की भाषा की भी चर्चा हुई है । यही नही, पशु-पक्षियो में भी भाषा का व्यवहार होता है । कवियो ने निर्जीव पदार्थों की भाषा भी सुनी है, किन्तु सामान्य-जन की गति वहाँ तक नही है । इस रूप मे 'भाषा' मानव-समाज की ही नही, अपितु प्राणिमात्र की सम्पत्ति है । यहाँ 'एक प्राणी अपने किसी अवयव द्वारा दूसरे प्राणी पर जो कुछ व्यक्त कर देता है—वही विस्तृत अर्थ मे भाषा है ।'†

'भाषा' शब्द 'भाष्' से बना है और इसीलिए भाषणावयवो से उसका सीधा सम्बन्ध है । 'वाक्' और 'वाणी' भाषा के पुराने पर्याय है; 'काव्यादर्श' के उपरिलिखित उद्धरण मे भी 'वाचामेव प्रसादेन' कहा है । लैटिन का 'लिगुआ', ग्रीक का 'लेइखेइन', अँगरेजी का 'टग', फ्रेंच का 'लाग', 'लागाज', फारसी का 'जबान' भाषा के अर्थ मे प्रयुक्त शब्द है, किन्तु इनके मूल में एक वागग 'जिह्वा' ही है । अँगरेजी का 'स्पीच,' जर्मन 'श्प्राख्' और अरबी 'लिस्सान' प्रायः 'भाषा' के समानार्थी है । इस कारण हम अन्य अवयवों के सकेतो को त्यागकर भाषा मे वागगो द्वारा उच्चरित ध्वनि-सकेतो को ही लेते है ।

§Some people....... have decided notions about language. But the ideas held and discussed come far short of giving a complete picture of the language.

—H. A. Gleason, An Introduction to Descriptive Linguistics, P..1.

†डॉ० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १ ।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। लिखित भाषा मुख्य रूप से भाषा नही है, उसकी सत्ता गौण है। उच्चरित भाषा की सहायता के लिए हम लेखन-कला का सहारा लेते है, किन्तु भाषा का वास्तविक अस्तित्व उच्चारण और भाषण मे ही है। यह अवश्य है कि लिखित भाषा का क्षेत्र उच्चरित भाषा की अपेक्षा विस्तृत है। हम अपनी परवर्ती पीढ़ियो तक या दूरवर्त्ती प्रियजनो तक अपनी बात पहुँचाने के लिए लेखबद्ध भाषा का ही अवलम्बन लेते है; जबकि उच्चरित भाषा मे वक्ता और श्रोता में समकालत्व और समदेशत्व की अपेक्षा होती है। लिखित भाषा से विज्ञान को बहुत लाभ पहुँचा है। अपने पूर्ववर्ती विज्ञानो की उपलब्धियों को हम उसके माध्यम से सहज ही प्राप्त कर लेते है और उनसे आगे बढ़ते है। लिखित भाषा के कारण हम बडी और उलझी समस्याओं को भी समझ सकते है तथा उन्हें सुलझाने की चेष्टा कर सकते है। उच्चरित भाषा मे जटिल समस्याओ को स्मरण रखना पडता, जिससे बड़ी कठिनाई होती और कभी-कभी तो यह असम्भव ही हो जाता। साथ ही, लिखित भाषा की अपनी सीमाएँ भी है। उसे मुखराग और इंगित का सहयोग नहीं प्राप्त होता, अतएव अर्थव्यजकता में वह उतनी समर्थ नही होती। स्पर्शग्राह्य (अन्धोंकी) भाषा इस नेत्रग्राह्य (लिखित) भाषा की अपेक्षा और भी गौण है। कोड (गुप्त) भाषाएँ, स्काउटों के चिह्न आदि, बच्चों की उलटे वर्णों की भाषाएँ भी गौण है।

जब मुँह से उच्चरित ध्वनियो को हम 'भाषा' के अन्तर्गत स्वीकार करते है तो पशु-पक्षियो की बोलियाँ भी उसमे आ जाती है। किन्तु वे ध्वनियाँ विश्लेषण-सह्य नही है और इतनी व्यापक भी नहीं हैं कि समस्त भावो, विचारों या इच्छाओं को सदा सफल रूप में प्रकट कर सके। अतएव भाषिकी के लिए ये स्वीकार्य नहीं है। भाषिकी केवल मनुष्य की भाषा का अनुशीलन करती है। मनुष्य की समस्त ध्वनियाँ भी भाषिकी के क्षेत्र में नही आती। अट्टहास और रोदन, ट्—ट्—ट्····प्रेरणात्मक या च्—च्—च्········करुणासूचक ध्वनियाँ भाषिकी में त्याज्य हैं क्योंकि एक तो ये विश्लेषण-सह्य नही है, दूसरे इसी उच्चारण को लेकर वे भाषा के शब्द-भाण्डार को भरने मे भी सहायता नही पहुँचाती। यदि किसी भाषा मे ये ध्वनियाँ शब्द बनाने में समर्थ है तो वह भाषा उनका वैज्ञानिक अध्ययन करेगी। अफ्रीका की अनेक भाषाओं में इनसे मिलती-जुलती क्लिक, इम्प्लोसिव और इजेक्टिव ध्वनियाँ पाई जाती है।§

"जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनकी

---

§Almost any sort of noise that the human vocal apparatus can produce is used in some way in some language.

—H. A. Gleason, An Introduction to Descriptive linguistics, P. 2.

समष्टि को भाषा कहते है। भाषा के इस लक्षण में विचार के अन्तर्गत भाव और इच्छा भी हैं।"§ इस परिभाषा को और स्पष्ट करे तो "भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते है जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवो से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दो के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते है।"† अथवा "मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय मे अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त-सकेतो का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।"‡ ये व्यक्त ध्वनि-संकेत सार्थक तो होते ही है, विभिन्न अर्थों के द्योतन के लिए उनका संयोजन विभिन्न रूपो में किया जाता है। इन ध्वनि-समूहों के अर्थपरक उपयोग से परिचित होना ही किसी भाषा को सीख लेना है।*

विचारों, भावो और इच्छाओ को प्रकट करने के माध्यम के रूप मे भाषा की सत्ता सर्वसम्मत है। एक विद्वान् ने यह मत दिया था कि भाषा विचारो को प्रकट करने का नही, उन्हे छिपाने का साधन है। किन्तु यदि हम तनिक भी विचार कर देखें तो यह सर्वथा स्पष्ट हो जाएगा कि इस उक्ति मे जितना चमत्कार है, उतनी किसी नये सत्य की उद्भावना नही। कोई व्यक्ति बडे बेमौके आ धमकता है। हम उसे टालना चाहते है, उससे मिलना नही चाहते; किन्तु शिष्टता की रक्षा के लिए कहना ही पडता है,—"आइए, विराजिए!" उपर्युक्त विद्वान् के अनुसार यह अपने विचार को छिपाना हुआ। किन्तु यह क्रिया क्या भाषा ने स्वेच्छा से की ? हमारे मन मे भाव आया कि यह व्यक्ति न आता तो अच्छा था, किन्तु शिष्टतावश स्वागत तो करना ही चाहिए। यहाँ दूसरा मनोभाव पहले को व्यर्थ कर देता है। दूसरे प्रमुख मनोभाव की सहायता भाषा करती है। कभी हमारा मन करे कि हम कुछ अट-संट बकें। मान लिया भाषा हमारा मन रख लेती है और हमारी इच्छा के अनुरूप निरर्थक वाक्य-समूह प्रस्तुत करने लगती है। तो क्या हम यह कहने लगेंगे कि भाषा न मनोभावों को व्यक्त करती है, न छिपाती है, वह तो असबद्ध, अप्रासंगिक और व्यर्थ ध्वनि-समूहो का अनाप-शनाप उच्चारण करती है! भाषा हमारी इच्छाओ की अनुगामिनी है। उपर्युक्त उदाहरण में यदि हम यह नही कहते कि 'जाइए, मै अभी आपसे नहीं मिलूँगा!' तो यह भाषा का दोष नही, दोष हमारी सुजनता या सभ्यता का है। हमारा

§डॉ० बाबूराम सक्सेना, 'सामान्य भाषाविज्ञान,' पृ० ६।

†डॉ० मगलदेव शास्त्री, 'भाषाविज्ञान', पृ० १७।

‡डॉ० श्यामसुन्दरदास, 'भाषाविज्ञान', पृ० २० तथा भाषा-रहस्य भाग १, पृ० ४४।

*In human speech, different sounds have different meanings. To study this co-ordination of certain sounds with certain meanings is to study language. —Bloomfield, Language, p. 27.

विचार, भाव या इच्छा यही कहने की हो तो भाषा इसे भी व्यक्त कर सकती है।

मनुष्य द्वारा उच्चरित व्यक्त शब्दसमूहों से निर्मित 'भाषा' का अर्थ भी एक नही है, उसके कई अर्थ लिये जाते है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए :—

१. 'मनुष्य की भाषा सभी पशु-पक्षी थोड़े अंशों मे भी समझ सके यह सम्भव नही।' यहाँ भाषा से तात्पर्य मनुष्य-मात्र की भाषा से है, वह चाहे हिन्दी, अँगरेजी, फ्रेंच कुछ भी हो।

२. 'हमारी भाषा हिन्दी है।' इस वाक्य मे भाषा से तात्पर्य किसी विस्तृत भूखंड, जाति या देश में बोली जाने वाली भाषा से है। ऐसी भाषा के लिए ही प्रायः 'भाषा' (Language) शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु कोई विशेषण लगाने से दूसरा अर्थ भी द्योतित हो सकता है। इसे राष्ट्रभाषा या टकसाली भाषा (Koine) भी कहा जाता है।

३. 'आप अवधी भाषा के प्रसिद्ध कवि है।' इस उद्धरण मे उपर्युक्त भाषा (विस्तृत भूखण्ड की) के भेद के रूप मे 'भाषा' शब्द का प्रयोग हुआ है। हम ऐसी भाषाओं को उपभाषाएँ (Sub-languages)§ कह सकते है। कुछ लोग इन्हें 'प्रान्तीय भाषाएँ' कहते है। एक भाषा मे प्राय. अनेक उपभाषाएं होती है। 'भाषा' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह कई उपभाषाओं के क्षेत्र मे व्यवहृत शिष्ट परिगृहीत भाषा ही होती है। भाषा और उपभाषा का भेद साहित्य के भाव या अभाव से नही होता; इस भेद के मूल मे प्रायः प्रान्तीयता रहती है। गुजराती और राजस्थानी एक भाषा की उपभाषाएँ-जैसी है, पर इन्हे भाषाएँ माना जाता है। साहित्य से भरपूर अवधी और व्रज उपभाषाएँ है।

४. 'मैं अवधी तो समझता हूँ किन्तु तुम्हारी बैसवाड़ी भाषा मेरे लिए भी कुछ-कुछ कठिन है।' यहाँ 'भाषा' शब्द 'उपभाषा' के विभागों अर्थात् 'बोलियों' के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैज्ञानिक विवेचन में इसके लिए 'बोली' (Dialect) शब्द का प्रयोग समीचीन है।

५. एक ही स्थान के निवासियों की भाषा मे भी भेद हो सकता है। इस भेद का कारण धर्म, जाति, व्यवसाय आदि की विभिन्नता है। स्त्रियो, ब्राह्मणों, कायस्थों, मुसलमानों तथा शूद्रों मे ये विभेद पाये जाते है। इन विभेदों के बावजूद सारी भाषा को

§इसके लिए 'विभाषा' शब्द का प्रयोग न किया जाय तो अच्छा है, क्योंकि अधिकतर 'वि' उपसर्ग का प्रयोग (१) विलोम के लिए या (२) कुछ अधिकता या विशेषता दिखाने के लिए होता है। जैसे—(१) देशी-विदेशी, माता-विमाता, देश-विदेश, राग-विराग और (२) द्रोह-विद्रोह, लीन-विलीन, भाग-विभाग।

को समझने मे कोई कठिनाई नही होती, किन्तु कभी-कभी इनमें उच्चारण, शब्द-भाण्डार और व्याकरण मे भी पर्याप्त पार्थक्य होता है। साँसिया, हबूड़ा, कंजड़ आदि जातियों मे यह बोलियों का भेद बहुत पाया जाता है। इन विभागों के लिए भी लोग 'भाषा' शब्द का प्रयोग करते है। 'अहीरो की भाषा', 'कायस्थो की भाषा' आदि वाक्यांश प्रचलित ही है। इनमे परस्पर अत्यन्त स्वल्प अन्तर होता है, अतः वैज्ञानिक विवेचन मे इनके पृथक् नामकरण की आवश्यकता नही। §कुछ लोग इन्हे 'स्थानीय भाषाएँ' (Patois) कहते हैं। एक-एक उपभाषा मे अनेक स्थानीय भाषाएँ होती है।

६. प्रत्येक व्यक्ति की उच्चरित भाषा को कभी-कभी उसकी निजी 'भाषा' के रूप मे देखा जा सकता है। इसे 'अनुली' (Idiolect) कहा जाता है। किसी एक भाषा के बोलने वाले सभी व्यक्तियो की उस भाषा मे समान गति नही होती। एक शब्द के अनेक पर्याय होते हे, पर हम उनमें से कुछ का ही प्रयोग करते है, दूसरे लोग अन्य कुछ का। इस प्रकार प्रत्येक की भाषा अलग-अलग होती है। हम किसी व्यक्ति की रचना सुनकर अनायास कह उठते है—"यह तो भाषा ही बोल रही है कि यह रचना अमुक व्यक्ति की है।"

एक व्यक्ति की भाषा को ही ले तो वह जीवन भर एक ही भाषा नही बोलता। काल-गति मे कुछ शब्द उसके स्मृति-पटल पर धूमिल होते जाते हैं और कुछ नये शब्द उभरते आते है। युवावस्था मे जो शब्दावली हमारे प्रयोग मे आती है, उसका एक अंश वृद्धावस्था तक पहुँचते-पहुँचते हमारे प्रयोग-क्षेत्र से बाहर चला जाता है।

एक ही समय मे भी कोई व्यक्ति एक भाषा नही बोलता। जिन व्यक्तियों से हम बात करते हैं, उनके पद, सम्मान, आयु और योग्यता के अनुसार हमारी भाषा एक ही दिन विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। एक ही बात यदि हम अपने अधिकारी और भृत्य से कहे, अपने किसी श्रद्धा-पात्र विद्वान् और किसी अज्ञानी से कहे, किसी वयोवृद्ध और बालक से कहे, किसी सुशिक्षित और अपढ़ से कहें तो हमारी भाषा के परिवर्तन मुखर हो उठेंगे।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो जो भाषा हमारे मुख से एक बार निकल जाती है, वह दुबारा उसी रूप मे नही निकल सकती। उसमे उच्चारण का भेद होगा। जिन मनोभावों का प्रतिफलन हमारी उस भाषा मे हुआ था वे अपनी तीव्रता भी खो चुकेंगे। इस रूप मे भाषा का परिवर्तन प्रतिक्षण होता चलता है और इतनी क्षिप्र गति से किन्तु अस्पष्टता से होता चलता है कि हम उसे समझ नहीं पाते। हम भाषा के उसी रूप का वैज्ञानिक विश्लेषण करते है जो कुछ व्यवस्थाओं के द्वारा किसी निश्चित कालावधि में एक जनसमुदाय में समान रूप से उपलब्ध हो।

§डॉ० मगलदेव शास्त्री इसे 'बोली' या 'परिभाषा' कहते हैं।

७. कभी-कभी साहित्यिक या सुसंस्कृत भाषा के लिए ही हम 'भाषा' शब्द का प्रयोग करते है, अन्य भाषाओ को बोली कह देते है; किन्तु यह सामान्य व्यवहार की बात है। 'सस्कृत भाषा', 'वैदिक भाषा'-जैसे शब्द इसके उदाहरण है।

यह साहित्यिक भाषा पुस्तको और पत्र-पत्रिकाओ की भाषा होती है। थोडा-सा शिक्षित समुदाय ही इसका व्यवहार लिखने-पढने मे करता है, बोलने मे वह भी नही। ऊपर दूसरे और तीसरे नम्बर पर जिन भाषाओं की चर्चा हुई है उनसे इसका अन्तर तभी मान्य होगा जब उपर्युक्त भाषाएँ सीधे बोल-चाल से आई हो और हमारी यह साहित्यिक भाषा बहुत कुछ कृत्रिम हो। ऊपर हमने "वैदिक भाषा' तथा 'सस्कृत भाषा' की चर्चा की है। सम्भव है ये भाषाएँ किसी समय पूर्णत: किसी रूप में सामान्य बोलचाल की भाषाएँ रही हों; किन्तु कुछ पडितो में अब भी सस्कृत साहित्यिक भाषा है।

साहित्यिक भाषा का जीवित स्वरूप भी तत्कालीन व्यावहारिक भाषा से कुछ-न-कुछ भिन्न होता है। इसलिए भाषा के स्वरूप को भविष्य के लिए बहुत-कुछ अशों मे सुरक्षित रखने का श्रेय भले इस भाषा को मिले, भाषिकी मे इसका विशेष उपयोग नही है। सर्वसाधारण की भाषा से इसकी तुलना करने पर पता चलता है कि साहित्यिक भाषा (क) कृत्रिम होती है तथा (ख) अपेक्षाकृत स्थिर होती है।

साहित्यिक भाषा का आरम्भ सर्वसाधारण की किसी भाषा मे होता है, जिसे किसी (प्राय: धार्मिक या राजनैतिक) कारणवश प्रमुखता मिल जाती है और वह राज-भाषा या धार्मिक भाषा बन जाती है। विभिन्न स्थलों के निवासी इसके माध्यम से सरलतापूर्वक विचार-विमर्श कर सकते हैं। इसका पद जनभाषा से ऊँचा होता है।

८. विश्वभाषा बनाने के दृष्टिकोण से निर्मित एस्पिरैंतो (Esperanto) आदि कृत्रिम भाषाओं के लिए भी 'भाषा' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु अव्यवहृत होने के कारण इनका विवेचन नहीं करना पड़ता।

९. संस्कृत ग्रन्थों के टीकाकारों ने तत्कालीन बोलचाल की भाषा के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग (इति 'भाषायाम्') किया है। यह भाषा दूसरे और तीसरे नम्बर पर उल्लिखित भाषाओं के अन्तर्गत आ जाती है।

जैसा कि स्पष्ट हो गया होगा, इन उदाहरणो में से कुछ स्थलों पर 'भाषा' शब्द का जो प्रयोग दिखलाया गया है, वह केवल सामान्य व्यवहार का है। किन्तु भाषिकी में 'भाषा' शब्द के कई अर्थों मे प्रयुक्त होने के कारण उसका स्पष्ट अर्थ समझ लेना आवश्यक होता है।§

---

§ब्लूमफ़ील्ड ने भाषा के ५ प्रकार माने है—1. literary standard, 2. colloquial standard, 3. provincial standard, 4. sub-standard, 5. local dialect. —Language, P. 52.

हम कह चुके है कि इगित आदि क्रियाएँ 'भाषा' के अन्तर्गत नहीं आती, यद्यपि कही-कही इनका बहुत विकास हुआ है। अमरीका की जगली जातियों मे पूरी-की-पूरी साकेतिक भापाएँ उपलब्ध है। कहा जाता है कि उत्तरी अफ्रीका की ग्रेबो जाति की भापा में क्रियाओ के काल और पुरुप को केवल हाथो की चेष्टा से प्रकट किया जाता हे। इगित, मुख-विकृति और अन्य सकेत भापा में स्थान न पाने पर भी भाषा के स्वरूप को स्थिर तथा पुष्ट करते है।

भाषा का उपयोग :—१. यदि एक व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता हो, किन्तु किसी कारणवश उसे स्वयं ला सकने का सामर्थ्य उस व्यक्ति मे न हो तो वह भापा के माध्यम से दूसरे व्यक्ति की सहायता ले सकता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति दूसरा कर देता है। यदि भाषा न हो तो मनुष्य पशुवत् हो जाय, कम-से-कम इस अर्थ मे कि वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वय प्रयत्न करे और सफल होने पर सन्तोप का अनुभव कर ले या असफल होने पर मन मसोस-कर रह जाय।§ भापा के कारण यह सम्भव है कि आवश्यकता का अनुभव एक व्यक्ति करे किन्तु उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील दूसरा व्यक्ति हो ; अर्थात् स्फुरण एक व्यक्ति में हो, किन्तु प्रतिक्रिया दूसरे मे। इसे यों भी कह सकते है कि भाषा के द्वारा वक्ता श्रोता को प्रभावित करता है अथवा किन्ही विशेष वस्तुओ या बातों की ओर उसका ध्यान आकर्पित करता है।

२. उपर्युक्त विशेपता से ही एक दूसरी बात का जन्म होता है—जो व्यक्ति जिस कार्य में दक्ष हो, वह सभी व्यक्तियो के लिए उस कार्य का सम्पादन कर दे। दूसरा व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार दूसरे कार्य का सम्पादन सबके लिए कर दे। इस प्रकार भापा कार्य-विभाजन करती है और कार्य-विभाजन की इसी प्रक्रिया पर आज का समाज टिका हुआ है।

३. एक व्यक्ति को प्रेरणा या स्फुरण होता है, किन्तु इस स्फुरण के प्रति

---

§ब्लूमफील्ड के उदाहरण में यह सन्देह उठ सकता है कि जिल को भाषा नहीं आती तो वह सेब की ओर सकेत कर दे जिससे जैक उसका मन्तव्य समझ जाए। इस सन्देह के दो समाधान हैं :—

१. 'भापा' का व्यापक अर्थ लेने पर ये संकेत भी 'भाषा' के अन्तर्गत आ जाते है।

२. 'भापा' शब्द का वैज्ञानिक अर्थ ही ग्रहण करें तो भी यह स्पष्ट है कि इंगित या संकेत उच्चरित शब्दों के सामर्थ्य को नहीं पा सकते। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को प्रकट करने की उतनी क्षमता उनमें नहीं आ सकती। उदाहरणार्थ, वही सेब यदि अन्यत्र और अदृष्ट होता, यह घटना रात की होती या जैक दूर होता तो जिल अपने मन्तव्य को इगित से कैसे व्यक्त करती ?

वह व्यक्ति क्रियात्मक प्रतिक्रिया (practical reaction) प्रकट न करने के लिए स्वतन्त्र है। वह चाहे तो केवल भाषणात्मक प्रतिक्रिया (speech reaction) व्यक्त कर दे। दूसरा व्यक्ति जिसे वास्तविक अथवा क्रियात्मक स्फुरण (practical stimulus) नही हुआ है, इस भाषणात्मक स्फुरण (speech stimulus) से प्रभावित होकर क्रियात्मक प्रतिक्रिया (practical reaction) प्रकट कर देगा। इस प्रकार वक्ता और श्रोता के दो भिन्न व्यक्तित्व एक हो जाएँगे। भाषा के माध्यम से दो चेता मडलो का पार्थक्य दूर हो जाता है।

४. इस प्रकार यह भाषणात्मक स्फुरण या भाषणात्मक प्रतिक्रिया अपने आप में महत्वपूर्ण न होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तुओं, कार्यो तथा बातों से सम्बन्ध रखती है। उसका अस्तित्व वायवी है किन्तु स्थूल तत्वो की स्थानापन्न होने के कारण भाषा का मूल्य बहुत बढ जाता है। आज के युग मे 'बात' से कितने काम चलते है, कहने की आवश्यकता नहीं।

५. भाषा विचार प्रकट करने का साधन तो है ही, वह विचार करने का साधन भी है। भाषा का आश्रय लिए बिना हम किसी विषय पर विचार नही कर सकते। यदि हम विचार करते समय ऊपर से मौन दिखते है तो केवल इसलिए कि भाषा को भीतर-ही-भीतर प्रयुक्त करते हुए सोचने का अभ्यास हमे हो गया है। कभी-कभी हम सोचते कुछ और रहते है किन्तु बोलते कुछ और ही है। ऐसे समय वस्तुत: जो हम सोच रहे होते है उससे सम्बन्धित भाषा हमारे मस्तिष्क के भीतर होती है, प्रकट नही होती और विचारो से असम्बद्ध जो भाषा हम बोल रहे होते है, उसका कारण अभ्यास होता है। कहा जा सकता है कि भाषा विचार का बाह्य पक्ष है, अर्थात् विचार भाषा का आन्तरिक पक्ष है। विद्वानों के मतानुसार इन दोनो की मध्यस्थ एक विचार-प्रतिमा (या ध्वनि-प्रतिमा) होती है। विचार उठने के लिए यह आवश्यक है कि वह विचार और प्रतिमा मस्तिष्क में आ जाएँ, उच्चरित ध्वनियाँ चाहे आएँ या न आएँ।

६. भाषा के कारण हम अनेक अनावश्यक झंझटों से बच गये हे। उदाहरणार्थ गिनती को लें। लाखो-करोड़ो का हिसाब हम एक छोटे-से कागज पर कर लेते हैं; कोई भूल हो जाय तो सुधार भी सकते है। यदि गिनती हमें न आती होती तो इतनी वस्तुओं को उठाना-हटाना, कितना कठिन होता! यदि कोई भूल हो जाती, तब तो दीवाला ही पिट जाता। गिनतियाँ न होती तो गणित के सूत्र कोई स्वप्न में भी न सोच पाता।

भाषण की भूमिका :—जब हम कुछ बोलना चाहते है तो मुख, नासिका अथवा दोनों से बाहर निकलती हुई वायु पर हमारे वागंग कुछ प्रभाव डालते है, इस प्रकार भाषा का क्रम चलता है। यह प्रक्रिया सर्वथा वैज्ञानिक अथवा यान्त्रिक

है। किन्तु यह कह सकना बहुत कठिन है कि 'अ' कब बोलेगा; मौन तो नही रहेगा, बोलेगा तो क्या बोलेगा, उसके शब्द क्या होगे। या इसी बात को दूसरे पक्ष में देखें तो यह भी नही कहा जा सकता कि श्रोता उस बात का क्या उत्तर देगा, या जो उत्तर उसने दिया है, वही क्यों दिया, अन्य कोई उत्तर क्यो नही दिया। निश्चय ही भाषण-ध्वनियो को उनका रूप देने वाला अथवा उन्हें अवस्थित करने वाला हमारे अवयवों का कोई विशिष्ट गठन होगा और यह गठन हमारे अवयवो के इस विस्तृत तथा विशाल गठन का एक पक्ष मात्र होगा जो हमारे ऊपर पडने वाले बाह्य प्रभावों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है, वह प्रभाव चाहे भाषा का हो चाहे अन्य कुछ। अवयवो के इस विस्तृत गठन का अध्ययन शरीरविज्ञान मे और विशेषकर मनोविज्ञान मे होता है, और जिस सीमा तक उसका प्रभाव भाषा पर पड़ता है, उस सीमा तक उसका अध्ययन करनेवाले विषय को 'भाषा का मनो-विज्ञान' (psychology of speech) अथवा 'भाषायी मनोविज्ञान' (linguistic psychology) कह सकते है।

हमारे अवयवों का यह गठन इतना पेचीदा है कि कब कौन क्या बोलेगा—कहा नही जा सकता। एक ही परिस्थिति मे विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ प्रकट करते हैं—कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। मनःवाद (mentalistic theory) के अनुसार भाषण की यह विविधता जिस तत्व द्वारा प्रेरित और नियंत्रित है वह सर्वथा अभौतिक (nonphysical factor) है तथा प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है। इस तत्व को हम आत्मा, मन या बुद्धि (spirit or will or mind) कह सकते है। यह तत्व चूँकि भौतिक जगत की कार्य-कारण-परम्परा का अनुशासन नहीं मानता, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि उसकी प्रतिक्रिया की पद्धति क्या है, अथवा कोई पद्धति है भी कि नही। इसी कारण भाषण की यह विविधता पाई जाती है और हम उसके सम्बन्ध मे पहले से कुछ कह भी नही सकते।

मनःवाद बहुत पुराना है और आज भी इसकी लोकप्रियता कम नही है। वैज्ञानिक रूप से भी यह अस्वीकृत नही है।

वस्तुवाद अथवा यन्त्रवाद (*materialistic or*, better, mechanistic theory) इस सूक्ष्म तत्व वाले सिद्धान्त को स्वीकार नही करता। उसके अनुसार मनुष्य का आचरण जिसमें भाषण भी सम्मिलित है, इतना विविध इसलिए है कि मनुष्य का शरीर-यन्त्र अत्यन्त पेचीदा है। थोड़ा-सा परिवर्तन होते ही उसकी प्रतिक्रिया नितान्त भिन्न हो सकती है। यद्यपि इस शरीर-यन्त्र पर भी कार्य-कारण-परम्परा का शासन है, किन्तु उसका अध्ययन बहुत कठिन है। जिस समय मनुष्य को कोई स्फुरण या प्रेरणा होती है, उस समय यदि उसके शरीर-यन्त्र की स्थिति का

अध्ययन और विश्लेपण किया जा सके तो यह कहना कठिन नही है कि प्रतिक्रया के रूप में भापा उच्चरित होगी या नही और यदि होगी तो उसके शब्द क्या होंगे। यदि हमने किसी व्यक्ति के शरीर-यन्त्र का अध्ययन और विश्लेपण पहले से कर रखा है, उसमें क्रमश: और निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तनों का ज्ञान हमे है तथा प्रत्येक स्फुरण के प्रति व्यक्त होने वाली उसकी प्रतिक्रिया से भी हम परिचित हो चुके है तो भी हम उसके सम्बन्ध मे कोई भविप्यवाणी कर सकने की स्थिति में हो सकते है।

हमारे भाषण मे यह वैविध्य प्रस्तुत करने वाला भाग हमारा चेतामडल है। यह यन्त्र पेचीदा तो है ही, स्थिर भी नही है। इसमे निरतर परिवर्तन होते रहते हैं। कोई परिवर्तन अस्थायी और अल्पकालीन होता है तो कोई स्थायी और दीर्घकालीन। किसी स्फुरण के प्रति हमारी प्रतिक्रिया का पूर्वज्ञान हमारी उन प्रतिक्रियाओं के द्वारा कुछ-न-कुछ किया जा सकता है जो हमने वैसे ही स्फुरणो के प्रति पहले व्यक्त की हैं। एक मजेदार बात यह है कि इस यन्त्र मे जिस अंग को स्फुरण होता है, उसी को प्रतिक्रिया व्यक्त करनी पड़े—यह आवश्यक नही। सम्भव है, स्फुरण आख को हो और प्रतिक्रिया व्यक्त करें हमारे हाथ या वागंग।

किसी के चेता-मंडल का अन्वेपण हम बाहर से नही कर सकते। अन्तर्मुखी दृष्टि से अपने चेता-मंडल के सम्बन्ध में भी कुछ नही कहा जा सकता क्योंकि हमारे पास ऐसा सवेदनशील अंग नही है जो उसकी गतिविधि को निरख-परख सके। मनोविज्ञान के विद्वान अनेक व्यक्तियों को एक ही स्फुरण से प्रभावित कर उसकी प्रतिक्रियाएँ देखते है तथा ऐसे ही अन्य प्रयोग करते है।

जो स्फुरण हमें होता है, उसके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली कुछ अन्य क्रियाएँ भी है, जैसे—हाथ से तिनका तोड़ना, नाखून से मिट्टी कुरेदना, इंगित, मुखराग, मुखविकार। इनमें से कई क्रियाएँ हमारी भाषा के साथ-साथ होती रहती हैं।

भाषा का स्वरूप :—कभी-कभी कुछ तार्किक भापा का महत्व इतना बढ़ा देते है कि लगता है, भाषा अपने आप में साधन और साध्य दोनों ही हो गई। वे एक-एक शब्द पर इतना बल देते हैं मानो शब्द का उच्चारण या श्रवण ही पर्याप्त है, उसका अभिप्राय महत्वपूर्ण नही। दूसरी ओर कुछ भावुक है जो भाषा को आत्माभिव्यक्ति का साधन तो मानते हैं किन्तु उसे इतना गौण और हीन स्थान देते हैं जैसे उसके बिना सभी कार्य यथावत् चल सकते हों। ये दोनों पक्ष अतिवाद के उदाहरण हैं, भाषा इन दोनों पक्षों के बीच में है।

भाषा अपने आप में साध्य हो जाय तो अंड-बंड बकने वालों को पागलखाने की हवा न खानी पड़े। दूसरे पक्षवालों की भापा यदि अर्थ वहन करना छोड़ दे तो उनकी आत्माभिव्यक्ति का वाहक कौन होगा, भगवान जाने। वस्तुत: भाषा एक समाज-सापेक्ष वस्तु है और समाज ही यह निश्चय करता है कि किस शब्द का क्या मूल्य होगा।

ऊपर के विवेचन से पता चल जाता है कि भाषा के प्रमुख आधार दो है—एक तो भौतिक और दूमरा मानसिक । भौतिक आधार में ध्वनियाँ आती हैं । मनुष्य द्वारा उच्चरित प्राय. सभी ध्वनियाँ किसी-न-किसी भाषा मे पाई जाती है । मानसिक आधार वह वस्तु या बात होती है जिसे हम भाषा के माध्यम से व्यक्त करना चाहते है । भापिकी मे इन्हे हम सुविधा के लिए क्रमशः कथन (expression) और कथ्य (content) की संज्ञा दे सकते है ।

यदि हमारी भाषा को कोई विदेशी हमारे मुख से सुनता है तो जो कुछ उसने मुना है, उसे 'भापा' तो कह ही नही सकते, 'कथन' भी वह पूर्ण नही है । उसने केवल ध्वनियाँ मुनी है—निरर्थक ध्वनियाँ । यही ध्वनि-प्रवाह भौतिकविज्ञानी (physicist) के लिए, रेडियो, टेलीफोन आदि मे सैद्धान्तिक रूप से और व्यावहारिक रूप से भी उपयोगी तथा महत्वपूर्ण हो सकता है । भापिकी में भी वह कच्चे माल का काम दे सकता है ।

'कथन' निरर्थक ध्वनियो का समूह नही है । इन ध्वनियों का भाषिकी मे मूल्य है किन्तु तभी जब वे अर्थ-भेदक बनकर आएँ और यह स्पष्ट है कि भाषा से अपरिचित व्यक्ति इन्हे इस रूप मे नही ग्रहण कर पाता ।

दूमरा उदाहरण हम उस व्यक्ति का ले सकते है जिसने इस भाषा को जन्म से मीखा है और जिसके लिए यह भापा साँस लेने या खाने-पीने-जैसी सहज स्वाभाविक वस्तु हो गई है । ऐसे व्यक्ति के लिए भी भाषा के 'कथन' पक्ष पर आवश्यक ध्यान देना सम्भव नही हो पाता । वह बात को सुनते-सुनते उसके अर्थ पर पहुँच जाता है और उसकी चेतना सम्पूर्णतः सूचनीय विपय पर केन्द्रित रहती है । यह 'सूचनीय' विपय भी भापा से उतनी ही दूर है जितनी दूर उपर्युक्त ध्वनियाँ । इस दृष्टि से भापा के इन दोनों आधारो का समुचित अध्ययन उसके लिए सुगम होगा जिसने सम्बन्धित भापा को जन्म से न सीखा हो, किन्तु उससे अपरिचित भी न हो ।

'कथन' ध्वनियों की एक व्यवस्थित पद्धति या ढाँचा है और 'कथन' के दृष्टि-विन्दु से यदि भापा की वैज्ञानिक व्याख्या की जाय तो उसे व्यक्त ध्वनियों अथवा ध्वनि-समूहों की क्रमबद्ध परम्परा कह सकते हैं । प्रत्येक भाषा मे व्यक्त ध्वनियों और ध्वनि-समूहों के कुछ विशेष समवाय-सम्बन्ध होते है । पेचीदा होने के कारण इनका विश्लेषण सुगम नहीं है; किन्तु इनके सम्बन्ध मे हम कुछ पूर्वकल्पना कर सकते है । इनकी व्यवस्था से सम्पृक्त होने पर हम इनके सम्बन्ध मे अपनी धारणा बना सकते है, ऐसी कि तनिक भी अव्यवस्था होने पर हमें अनायास खटक जाए । इसी अर्थ मे इन्हे 'क्रमबद्ध' कहा जा सकता है ।

अब 'कथ्य' को लें । वक्ता जिस वस्तु या बात के सम्बन्ध में कुछ कहता है उसे

वह अर्थ-संगति के एक व्यवस्थित स्वरूप की शकल में देखता है।§ इस अर्थ-संगति के कुछ अंगों का वह चुनाव करता है जिन्हें अपनी भाषा के द्वारा उभारकर उसे सम्मुख लाता है। वह उन पद्धतियों का भी निश्चय करता है जिनके द्वारा इन अंगों को परस्पर सम्बन्ध करना होगा। सूचनीय वस्तु या बात के अर्थ-पक्ष को सम्बन्धित भाषा के स्वभाव के अनुकूल हम कुछ विशेष भागों मे विभाजित कर लेते हैं। इन विभागों को ही हमने ऊपर अंग कहा है। इन विभागों की भी क्रमबद्ध परम्पराएँ होती है, जिनका समवाय-सम्बन्ध भिन्न-भिन्न भाषाओं में अलग होता है। इनका विश्लेषण भी सुगम नही है किन्तु सम्पृक्त होकर भी ये हमारे लिए उतनी ही परिचित हो जाती है और इनके सम्बन्ध में भी उतने ही अंशों में पूर्वकथन किया जा सकता है। इन्हीं क्रमबद्ध परम्पराओं से 'कथ्य' का स्वरूप अवस्थित होता है।

भाषा के ये दोनो आधार पृथक् नही है, इनमें परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु इस सम्बन्ध का विश्लेषण भी सुगम नही हैं। एक आधार दूसरे से कब कहाँ और कितना प्रभावित होता है, कहा नही जा सकता। किन्तु यह सम्बन्ध भी प्रत्येक भाषा में अलग-अलग होता हैं। और सम्पर्क से इसके विषय मे भी धारणा बनाई जा सकती है। 'कथन' और 'कथ्य' इन दोनों आधारों का यह पारस्परिक सम्बन्ध भाषा-का एक तीसरा आधार बनाता हैं जिसे हम 'शब्दावली' कह सकते है।

यह आधार शब्द और अर्थ के स्वीकृत पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में आता है। उपर्युक्त दो आधारों की अपेक्षा यह आधार अस्थिर होता हैं, इसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। कुछ शब्द तो बहुत शीघ्र परिवर्तित हो जाते है किन्तु जिन्हें अपेक्षाकृत स्थिर कहा जाता है उनके परिवर्तन की गति भी शिथिल नही समझनी चाहिए। समाज की अपेक्षा व्यक्ति के जीवन में शब्दो का जन्म-मरण बहुत क्षिप्र गति से होता है। व्यक्ति नये-नये शब्द सीखता जाता है और पुराने शब्द (यद्यपि उनके मिटने की गति अपेक्षाकृत कम होती है, नये शब्द सीखने की अधिक) भूलता जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो 'कथन' और 'कथ्य' इन दोनों आधारों को सीखना कठिन होता है, किन्तु इस तीसरे को सीखना अपेक्षाकृत बहुत सरल है।

जिसने जिस भाषा को जन्मसे सीखा है, उसे उसमें कुछ भी पेचीदा नही लगता किन्तु नौसिखियों को वह कठिन, अनियमित और हास्यास्पद भी लग सकती है। यह सब सत्य है किन्तु इस सत्य का उद्घाटन पूर्णतः तब हो सकता हैं जब भाषा का परीक्षण वस्तुनिष्ठ (objective) दृष्टि से किया जाए।

●

---

§हम कह आये हैं कि 'सूचनीय विषय' भाषा (जिसका एक आधार 'कथ्य' है) से और इसलिए 'कथ्य' से भिन्न है। जिस वस्तु या बात के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है, उसे हमने 'सूचनीय विषय' कहा है; और उसी को अर्थ-संगति के एक व्यवस्थित स्वरूप की शकल में देखने पर 'कथ्य'।

२. विचार, भाषा और अभ्यास

यह प्रश्न प्राय. उठाया जाता है कि भाषा के बिना विचार सम्भव है या नही। अधिकाश विद्वान् इस बात पर एकमत रहे है कि यह सभव नही है। इस मतैक्य के कारण भाषिकों मे जो आत्म-विश्वास उत्पन्न हुआ है, उसका प्रतिफलन डॉ० बाबूराम सक्सेना के इन शब्दों में देखा जा सकता है जो चुनौती के-से लहजे मे कहे गये लगते है :—"भाषा विचार करने का भी साधन है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि कोई भी विचार करने बैठें तो भाषा की मदद के बिना नही कर सकते। जिसको सन्देह हो, वह प्रयत्न करके देख ले।" वस्तुत हमे यह बात सत्य लगती है। हमारा सबका अपना अनुभव भी यह बताता है कि यदि हम कोई विचार करते है तो वहाँ भाषा अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए हम पहले भाषा का प्रमुख तथा सर्व-प्रथम उपयोग समझ लें। ब्लूमफ़ील्ड ने 'लैंग्वेज' नामक अपनी पुस्तक मे जैक और जिल—दो व्यक्तियों का उदाहरण देकर इस पर बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। जैक और जिल कही जा रहे है। जिल वृक्ष पर लगा हुआ एक सेब देखती है। वह भूखी है और स्वभावतः उसे पाने के लिए लालायित हो उठती है।

अब उसके सामने एक मार्ग यह है कि वह स्वय प्रयत्न करे, सेब तोड लाए और अपनी भूख मिटाए किन्तु यदि इसमें असफल रहे तो निराश होकर अपनी राह लगे। यह स्थिति सभी पशु-पक्षियों पर लागू होती है। सेब पाने की लालसा और आवश्यकता को यदि 'स्फुरण' कहें तथा उसे पाने की सक्रिय शारीरिक चेष्टाओ को 'प्रतिक्रिया' की सज्ञा दें तो हम इस घटना को इस रूप मे दिखा सकते है :—

स्फुरण———>प्रतिक्रिया

अब हम इस घटना की दूसरी संभावना लेते हैं। मान लिया जैक से जिल के अच्छे संबंध हैं और वह सेब लाने मे अपने आपको असमर्थ या अपेक्षाकृत कम चतुर समझती है या वृक्ष पर चढ़ने का कष्ट नही उठाना चाहती तो वह जैक से कहेगी और जैक उसके लिए सेब ला देगा।

इस घटना में जिल को 'स्फुरण' होता है; किन्तु 'प्रतिक्रिया' के सक्रिय रूप की शरण उसे नही लेनी पड़ती। उसके स्थान पर वह केवल अपने वागंगों को थोड़ा हिला-डुला देती है, कुछ शब्द कह देती है। यह एक 'स्थानापन्न प्रतिक्रिया' हुई, जिसे

हम 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' कह सकते हैं। इस 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' का प्रभाव जैक पर यह पड़ता है कि वह सेब पाने की सक्रिय चेष्टा करता है, जो उसे तब करनी चाहिए थी जब उसे 'स्फुरण' होता। 'प्रतिक्रिया' तो उसकी वास्तविक है, किन्तु 'स्फुरण' नहीं। 'स्फुरण' के स्थान पर केवल वे शब्द आते हैं जो 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' के रूप में जिल ने कहे हैं। जिल ने वे शब्द कहे तो उसकी 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' हुई और जैक ने उन्हें सुना तो वह उसके लिए 'भाषणात्मक स्फुरण' हुआ। इस घटना को यों दिखा सकते हैं —

स्फुरण——————→भाषणात्मक प्रतिक्रिया····(जिल)

भाषणात्मक स्फुरण——————→प्रतिक्रिया ···· (जैक)

इस घटना के पहले वाले पहलू में भाषा का प्रवेश नहीं हुआ और दूसरे में भाषा आ गयी। भाषा के आने से यह संभव हुआ कि 'स्फुरण' एक व्यक्ति में हो और 'प्रतिक्रिया' दूसरे में। इसी क्रिया से समाज की प्रतिष्ठा सम्भव हुई है जिसमें एक विषय का अधिकारी अपने विषय का संपादन सबके लिए कर देता है और दूसरे का अधिकारी अपने विषय का। जो व्यक्ति जिस कार्य में दक्ष है वह वही कार्य सारे समाज के लिए कर देता है। यहाँ यह सन्देह न होना चाहिए कि उक्त उदाहरण में भाषा के बिना भी काम चल सकता था, जैसे कि जिल संकेत कर देती और जैक इतने से ही उसका आशय समझ जाता। हमें स्मरण रखना होगा कि यह उदाहरण केवल बात को स्पष्ट करने के लिए लिया गया है, अन्यथा आज के सभ्य जीवन में इतनी उलझी हुई बातें करनी होती हैं जिन्हें हम संकेतों में कभी व्यक्त नहीं कर सकते। उन सबकी प्रारंभिक स्थिति के रूप में ही इस उदाहरण को ग्रहण करना चाहिए। वैसे, भाषा के सम्मुख इंगितों में अन्य कितनी सीमाएँ हैं—हम सभी जानते हैं। व्यापक अर्थों में इंगित को भी हम भाषा के अन्तर्गत ले लेते हैं।

किन्तु क्या आज घटना के पहले वाले स्वरूप में भाषा का प्रवेश नहीं होता? जिल ने जब सेब देखा तो उसके मन में कुछ भाव उठे, कोई इच्छा जाग्रत हुई। वह भले ही कुछ न कहे किन्तु उसके मन में कई बातें घूम गयीं। वह प्रसन्न हो उठी कि बड़े अच्छे मौके पर एक सेब दिख गया। उसे चिन्ता हुई कि उसे वह सेब मिलेगा भी कि नहीं। सफल होने पर वह गद्गद् हो गयी या असफल होने पर अपने भाग्य को कोसने लगी। मौन रहने पर भी ये सारी क्रियाएँ हुईं और क्या इनमें भाषा साथ न थी? अथवा, उक्त घटना के दूसरे पहलू में जिल की 'भाषणात्मक प्रतिक्रिया' प्रत्यक्ष होने के पूर्व क्या उसके मन में कुछ बातें नहीं उठतीं और क्या उन बातों की पृष्ठभूमि में भाषा स्थित नहीं होती? वास्तविकता यह है कि आज हमारी कोई क्रिया बिना भाषा के नहीं हो पाती।

ब्लूमफ़ील्ड के साथ हम भी मान लें कि जैक और जिल उस स्थिति में हैं जब

पर 'कुछ' व्यक्त कर देने की क्रिया होती है। इसे यहाँ हम भाषा नहीं मानेंगे। हम भाषा को उस रूप में स्वीकार कर रहे हैं जिसे मनुष्य की विशेष सम्पत्ति माना जाता है और जिसके माध्यम से मनुष्य गहरी से गहरी, उलझी से उलझी बातें बहुत-कुछ पूर्णता की सीमा तक प्रकट कर सकता है। यही भाषा, जब हम विचार करते हैं या कुछ सोचते हैं तो हमारे साथ रहती है। ऐसा क्यों होता है ?

भाषा के दो पक्ष हैं, एक भौतिक और दूसरा मानसिक। जब हम 'कमल' शब्द का उच्चारण करते हैं तो हमारा तात्पर्य एक पुष्प-विशेष से होता है। किन्तु 'कमल' शब्द का उच्चारण ही वह पुष्प नहीं है और न इस शब्द का कोई आन्तरिक सम्बन्ध उस पुष्प से है। किन्तु ये दोनों वस्तुएँ (यह शब्द और अभीष्ट पुष्प) हमारे लिए एक हो गयी हैं। हमने उक्त पुष्प के द्योतन के लिए एक शब्द निश्चित कर दिया जो समाज में प्रचलित हो गया। वैसे इन दोनों वस्तुओं की सत्ता अलग-अलग है। संबंध निश्चित कर दिये जाने पर उक्त पुष्प को उसी रूप में नहीं देखते, 'कमल' के रूप में देखते हैं। 'कमल' शब्द के उच्चरित होते ही हमारे सम्मुख उक्त पुष्प की प्रतिमा उपस्थित हो जाती है। यहाँ हम कमल शब्द को 'सूचक' और कमल या कमल की प्रतिमा को 'सूच्य' कह सकते हैं। इन दोनों प्रतिमाओं (शब्द-प्रतिमा और अर्थ-प्रतिमा) का संबंध निरन्तर अभ्यास से इतना दृढ़ हो जाता है कि उक्त पुष्प हमारे लिए अपनी मौलिक और नैसर्गिक अवस्था में नहीं रहता, वह 'कमल' हो जाता है।

इन दोनों प्रतिमाओं में से एक प्रतिमा भाषा-पक्ष की ओर है और दूसरी विचार-पक्ष की। इन्हीं का विकसित रूप आज यह प्रस्तुत है कि भाषा और विचार अलग-अलग नहीं रह गये, एक वस्तु के दो पक्ष बन गये हैं।

किन्तु आरंभ में क्या स्थिति थी ? इन दोनों पक्षों में प्रधान कौन है ? भाषा से विचार उपजे या विचारों से भाषा बनी ?

प्रारंभिक अवस्था में निश्चय ही मनुष्य की दृष्टि पहले स्थूल वस्तुओं पर गयी होगी और उनका नामकरण हुआ होगा। ये स्थूल वस्तुएँ आज के अर्थ-पक्ष या 'सूच्य' की प्रतिमाओं की पूर्वज मानी जा सकती हैं और इस रूप में इन्हें विचार-पक्ष का प्रतिनिधि मानना चाहिए। किन्तु यहाँ इस प्रश्न को हम छोड़ देते हैं। स्थूल से मनुष्य सूक्ष्म की ओर बढ़ा होगा और जिन-जिन भावनाओं, कल्पनाओं या विचारों की अनुभूति उसे हुई होगी, उन्हें भाषा में कोई शब्द दे दिया गया होगा। यह बात अकल्पनीय है कि किसी शब्द का निर्माण कर लिया गया होगा और बाद में कोई भावना मिलने पर वह उसमें सन्निहित कर दी गयी होगी। हाँ, दो बातें यहाँ ध्यान में रखने की हैं। एक तो यह कि इस क्रिया में युगों लग गये हैं। आरंभ में भाषा का स्वरूप आज-जैसा नहीं था। आज की दृष्टि से तो उस समय की भाषा को 'भाषा' कहने में हमें संकोच हो सकता है। साथ ही, विचार भी आज की विकसित अवस्था में नहीं थे।

दूसरी बात यह है कि विचार से भाषा जन्मी इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि नये विचार के उपजने में भाषा से (जो मात्र-भाषा न थी, बल्कि भाषा और विचार का मिश्रण थी) कोई संकेत अथवा सहायता न मिली होगी। एक भावना या विचार से मिलती-जुलती दूसरी भावना या विचार के लिए पहले 'सूचक'-जैसा ही दूसरा शब्द बनाया गया होगा, अथवा किसी बह्वर्थक शब्द के विभिन्न उच्चारणो को उसके अर्थ-खड एक-एक कर सौंपे गये होगे। सूच्य-सूचक का घनिष्ठ सबंध हो जाने पर वे एक हो गये होंगे और उनसे नये विचारो (तथा नयी भाषा) को प्रेरणा मिली होगी। विचार के इस प्रेरक तत्व मे भाषा का अंग 'सूचक' भी सम्मिलित था, यह भाषा के लिए गौरव की बात है। किन्तु यह निश्चित है कि विचार की प्रमुखता भाषा से कही अधिक है। आज भी गहन चिन्तन के क्षणो मे अथवा भावाभिभूत (किन्तु अभिव्यक्ति के लिए उत्सुक) होने पर (जब हम संवेगो से हतचेतन नही हो जाते) हमे लगता है कि भाषा हमारा साथ नही दे पा रही है। हमारे अभ्यन्तर को पूर्णत. व्यक्त कर पाने में भाषा कुछ-न-कुछ हल्की और छिछली पड़ती है, इसका अनुभव हम कर सकते है। इस बात को सदैव 'भाषा के प्रति अज्ञान' कह कर नही टाला जा सकता।

हम भाषा के बिना विचार नही कर सकते, इसका कारण यही है कि हमारे दिन-रात के अभ्यास के कारण सूच्य-सूचक अभिन्न हो गये है, फलत: सूच्य का पीछा सूचक नही छोड़ता। इसी बात का दूसरा पक्ष लेते हुए कह सकते है कि जब हम कोई बात कहते है तो उसका अर्थ-पक्ष भी हमारे मस्तिष्क मे रहता है, अर्थात् सूच्य सूचक का पीछा नहीं छोड़ता। दूसरे शब्दो मे शब्द-प्रतिमा प्रस्तुत करते समय उसकी अर्थ-प्रतिमा हमारे सम्मुख उभर आती है।

यह बात कभी-कभी असत्य लगती है। हम बहुत-सी बातें ऐसी कहते हैं जिनके साथ, हम स्पष्ट अनुभव करते है कि, हमारी विचार-शक्ति की आवश्यकता नही पड़ रही है, या अर्थ-पक्ष नही उभर रहा है। 'तुम उत्तीर्ण हो गये! यह वाक्य कहते समय उत्तीर्ण होने की भावात्मक विचार-प्रतिमा हमारे सम्मुख नही होती, उसमे या तो मात्र-सूचना रहती है या हर्षवेग तथा सूचना। किन्तु यदि हम गहराई से देखे तो यहाँ भी विचार का धुँधला-सा आभास मिल जाएगा। इस धुँधलेपन का एक कारण है आवेग और दूसरा अभ्यास। निरन्तर कोई बात कहते-कहते एक समय ऐसा आ जाता है, जब भाषा का प्रयोग होने पर भी उसके विचार-पक्ष या अर्थ-प्रतिमा के लिए हमें प्रयास नही करना पड़ता, वह आवश्यकता भर के लिए स्वय उभर आता है और इस आयास-रहित उभार को कभी-कभी हम बिना गहराई से देखे नही जान पाते।

इस प्रसंग में कुछ उदाहरण ऐसे दिये जाते है जहाँ कोई व्यक्ति सोचता कुछ और रहता है किन्तु बोलता कुछ और है। इसका साधन भी अभ्यास है। इस अभ्यास

के द्वारा वह अपने चिन्तन तथा भाषण के दो विभाग कर लेता है। जो कुछ वह सोच रहा है उसके साथ मूक भाषा रहती है। दूसरे विभाग में, जो कुछ वह बोल रहा है उसके साथ मूक चिन्तन रहता है।

किन्तु ऐसे क्षणों मे मनुष्य की चिन्तन-शक्ति तथा भाषण-पद्धति विभक्त हो जाने के कारण उतनी स्वाभाविक, समर्थ और समृद्ध नही रहती, इसका अनुभव हम प्रायः कर सकते हैं। ऐसे में हम जो सोच रहे है वह प्राय. सोचना नही होता, किसी वस्तु पर हल्का-सा ध्यान लगाये रहना होता है। यदि चिन्तन को गतिशील बनाने की चेष्टा करते है तो भाषा अव्यवस्थित, अशुद्ध और निरर्थक हो जाती है। यदि कोई भाषण हमें रटा हुआ हो तो भी उसे हम सर्वथा शुद्ध और अपनी स्वाभाविक गति से नही पढ़ सकते, यदि हमारी बुद्धि सचमुच कहीं और अटकी हुई है। दोनों क्रियाओ को समुचित रूप से सफल बनाने की चेष्टा करने पर हमारी बुद्धि और हमारा भाषण : दोनों झटके खाते हैं। अभ्यास की यह असफलता इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि सूच्य भी सूचक का साथ नही छोड़ता और समग्र रूप में विचार तथा भाषा आज अभिन्न है।

३. परिवार में भाषा-विकास

भाषा का विकास निरन्तर होता रहता है। यहाँ विकास का अर्थ उन्नति नहीं, परिवर्तन है। परिवर्तित भाषा केवल परिवर्तित होती है, उन्नत या अवनत (अपभ्रष्ट, अपभ्रंश) नहीं। प्रत्येक भाषा प्रत्येक कालखण्ड मे अपने समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इसलिए प्रत्येक भाषा-रूप अन्य किसी भी भाषा-रूप के समान ही समर्थ और पूर्ण होता है। उन्नति या अवनति की कल्पना इसी कारण अवैज्ञानिक मानी जाती है।

भाषा का यह विकास या परिवर्तन उसकी विभिन्न इकाइयो के स्तर पर होता है—ध्वनि-स्तर पर, शब्द-स्तर पर, वाक्य-स्तर पर और अर्थ-स्तर पर। काल-भेद से इन चारों इकाइयो में कुछ-न-कुछ अन्तर आ जाता है। किन्तु इस अन्तर का रूप सर्वत्र समान नहीं होता, देश-भेद से भिन्न-भिन्न हो जाता है। एक भाषा मे हो रहे परिवर्तन दूसरी भाषा में हो रहे परिवर्तनों से भिन्न होते हैं—यह तो प्रकट ही है। किन्तु एक भाषा-भाषी समुदाय के भीतर भी परिवर्तन का प्रभाव सर्वदा और सर्वत्र एक-जैसा नहीं होता। सारे समुदाय के भीतर लघुतर इकाइयाँ होती है—पहले जिलो-जैसी बड़ी इकाइयाँ, फिर उनमे छोटी परगनों-जैसी, फिर गाँवो-जैसी। अन्त मे परिवार और सबके बाद व्यक्ति का नम्बर आता है। इन सारी इकाइयो का ठीक-ठीक सीमा-निर्धारण सम्भव नही होता। जिलों और परगनो का सीमा-निर्धारण सहज है, भाषा के विकास की मात्रा के अनुरूप स्थान की विविध इकाइयों का सीमा-निर्धारण सहज नही है। हम केवल इतनी कल्पना सरलतापूर्वक कर सकते है कि स्थानगत इकाइयाँ भी विविध है जो एक-दूसरे से छोटी या बड़ी होती गई है—यहाँ तक कि एक छोर पर सम्पूर्ण भाषा-भाषी समुदाय आ जाता है और दूसरे छोर पर व्यक्ति। भाषा-भाषी समुदाय के रूप मे एक ऐसे वृत्त की कल्पना करना उपयुक्त होगा जिसके भीतर अनेक वृत्त होते चले गये है और अन्त मे केन्द्रबिन्दु मिलता है—व्यक्ति।

किन्तु इस वृत्त की कल्पना की भी अपनी सीमाएँ है। भाषा की विविध इकाइयो के वृत्ताकन समान नही होते। यही नहीं, प्रत्येक इकाई के प्रत्येक सदस्य के अपने-अपने सीमाकन होते है। इस प्रकार इन वृत्तो की रेखाएँ एक-दूसरे को उतने ही स्थानों पर काटती या परस्पर भिन्न होती है, जितनी सारी भाषा मे विकसित सदस्यों की संख्या होती है।

कठिनाई यहीं तक सीमित नही है। इस वृत्त की एक दूसरी दिशा भी है,

जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और वह है समय की । भाषा-भाषी समुदाय (देश) के बडे वृत्त के ऊपर उस भाषा के सम्पूर्ण जीवन-काल (काल) का बड़ा वृत्त खड़ा होता है । इस वृत्त के भीतर भी क्रमश: लघुतर होते हुए वृत्त-पर-वृत्त बनते जाते है और अन्त मे केन्द्रविन्दु मिलता है—क्षण । किन्तु यह लघुतम इकाई कोई एक निश्चित विन्दु नही है, काल-वृत्त मे वह सर्वत्र व्याप्त है; उसी प्रकार जैसे भाषा भाषी समुदाय में कोई एक व्यक्ति केन्द्र नही है, सारे व्यक्ति अलग-अलग एक केन्द्र-है । उलझन यह है कि देश-भेद के वृत्त काल-भेद के वृत्तो के अनुरूप नही होते, परस्पर काटते हुए और एक-दूसरे का सीमोल्लघन करते चलते है ।

भाषा के विकास के उलझावो का उक्त उलझनभरा चित्र अब वास्तविकता के अनुरूप है । देश-भेद के महत्तम वृत्त के उदाहरण सब पर प्रकट है—अँगरेजी अलग है, फ्रेंच अलग है और रूसी अलग है । काल-भेद के महत्तम वृत्त भी सर्वविदित हे—वैदिक, संस्कृत, प्राकृतें, अपभ्रंशें और फिर हिन्दी आदि । इन दोनों दिशाओ का केन्द्र-विन्दु लें । देश-भेद मे व्यक्ति पर पहुँचें तो थोडी सावधानी बरतनी होगी । प्रत्येक व्यक्ति की भाषा स्वतन्त्र हैं । एक उदाहरण लूँगा । यदि आप हिन्दी भाषा-भाषी है तो किसी हिन्दी पुस्तक के पाँच-सात पृष्ठ सावधानी से पढ़ जाइए और देखिए कितने शब्द आपको मिलते है जिन्हे आप भली-भाँति जानते है किन्तु जिनका प्रयोग आपने जीवन मे कभी नहीं किया । अथवा किसी पडोसी की सारी बाते सावधानी के साथ दो-तीन दिन सुनिए और देखिए कि ऐसे कितने शब्द आपको मिलते है । यही बात किसी भी भाषा पर लागू की जा सकती है । शेक्सपियर और मिल्टन के शब्दो का लेखा-जोखा व्यक्तियो के शब्दों का लेखा-जोखा है । कालभेद के केन्द्र-विन्दु क्षण के सम्बन्ध मे वैज्ञानिकों का यह मत उल्लेखनीय है कि कोई व्यक्ति किसी भी ध्वनि का उच्चारण ज्यों-का-त्यो दूसरी बार नहीं करता । कम-से-कम आवृत्ति की सम्भावना उतनी ही अल्प है जितनी आकाश मे नक्षत्रों के परस्पर टकरा जाने की । और यह कल्पना तो हम-आप कर ही सकते है कि जो भाषा कुछ सौ वर्ष बाद बिलकुल बदली नज़र आती है किन्तु जिसका बदलना किसी भी क्षण हम नही जान पाये हैं, वस्तुत: क्षण-क्षण बदलती रही है ।

लेकिन ये सारी बातें चरम विन्दुओं की है । इस सारी चर्चा से भाषा-विकास का जो रूप हमारे सामने खिचता है, वह अत्यन्त जटिल और शुष्क प्रतीत होता है । सैद्धांतिक रूप से और वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से ऐसा है भी; किन्तु व्यावहारिक रूप मे सामान्यत: वह अत्यंत मधुर और मनोरंजक है। यह अवश्य है कि रस-प्राप्ति और मधुरता के लिए जटिलता में क्रमश: वैसे-वैसे उतरना चाहिए जैसे-जैसे भाषा-विश्लेषण की शक्ति आती जाय और उसमे आनन्द मिलता जाय ।

इस दृष्टि से रोचकता की सहज उपलब्धि हो सकती है परिवार के भाषा-विकास मे । अपने पिता, चाचा, भाई, भतीजे या पुत्र-पुत्रियों की भाषा ध्यान से सुनते

रहिए और मन-ही-मन अपनी भाषा से तुलना कीजिए। देखिए क्या आपके माता-पिता कुछ ध्वनियाँ ऐसी ठसक से बोलते है जो आपकी ध्वनियो मे नही मिलती। क्या वे 'सोडा' को 'सोडा' कहते है ! क्या 'टाइम' उनके लिये 'टैम' है ! क्या वे कुछ ऐसे शब्दों का व्यवहार यदा-कदा कर जाते है जिनका अर्थ आप नही जानते अथवा जानते है तो स्वय उनका व्यवहार नही करते ! क्या उनके लिए कुछ शब्दों का अर्थ आपसे थोडा भिन्न है ! क्या उनकी कुछ वाक्य-रचनाएँ आपसे भिन्न है ! देखिए क्या आपके बच्चे कुछ परिचित ध्वनियाँ कुछ ऐसे बोल रहे है कि उनका ठीक-ठीक अनुकरण आप नही कर सकते ! क्या वे कुछ शब्द विचित्र ढंग से बोलते है ! क्या वे कुछ शब्द पास-पड़ोस से माग लाये है ! क्या उन्होने कुछ ऐसी वाक्य-रचनाएँ आपको सौंपी है जिनमे आपको वही मजा आता है जो उनके अनगढ़ खेल-खिलौनो मे ! यह सही है कि इस प्रकार के बहुत से परिवर्तन यथावत् सुरक्षित नही रहते, समय-क्रम से बदल जाते है, किन्तु विकास के बीज उनमे बने रह जाते है।

आप अपने चाचाजी से पूछते है कि क्या आये हुए अतिथि चले गये और आपके चाचाजी कहते है—'हौ !' आप उत्तरप्रदेश के निवासी हैं और अचम्भा करते है कि यह 'हौ' क्या है। प्रसग से और ध्वनि-साम्य से आप जान जाते है कि यह 'हौ' आपके 'हा' का सहोदर है, लेकिन आपका अचरज अब भी नहीं जाता। अचरज न कीजिए ! आपके चाचाजी बीस साल मध्यप्रदेश में रहकर आये है न ! यह 'हौ' उनकी वहीं की कमाई है। आपकी पत्नी पूर्वी उत्तरप्रदेश की है और आप पश्चिम के हैं। अब अपने दाम्पत्य-जीवन का दृष्टि-भेद निरखिए। यदि आप 'कैहते' है तो वह 'कॅहती' है, जिस मकान में आप 'रैहते' है, उसमे वह 'रॅहती' है, जो वस्तु आपको 'बैहती' मालूम पड़ती है वह उन्हें 'बॅहती' नजर आती है और इस भेद को इधर आप चुपचाप 'सैहते' रहते है, उधर वह चुपचाप 'सॅहती' रहती है। लेकिन अपनी भाभी के साथ आप इतने सहनशील नहीं हैं। वह बेचारी पाँच-सात वर्ष पूर्व ही आपके घर आई है। उन्होंने आपके घर को अपना घर बनाया है तो आपकी भाषा को अपनी भाषा भी बनाया है। लेकिन बचपन के सस्कार है, कभी-कभी वह अब भी 'आम' को 'टपका' कह जाती हैं, 'गलियारा' उन्हे 'बटहा' हो जाता है और 'सीढ़ी' 'नसेनी' हो जाती है। फिर तो आप उन्हें चिढ़ाने से चूकते नही। आप पूछते हैं—'भाभी को आम दिये जायँ कि टपका ?' आप कहते है—'भाभी गलियारे में क्यों चलेंगी, उनके लिए बटहा जो बना हुआ है ?' कोई प्रसंग न होने पर भी आप दिन मे पचीस बार 'नसेनी' शब्द का इस प्रकार प्रयोग करते है मानो भाभी को चिढाने के लिए नही बल्कि अपने ही शब्द की भाँति स्वाभाविक रूप से उसका प्रयोग कर रहे हों—'अब हमारी नसेनी पुरानी हो गई !', 'दद्दा के यहाँ की नसेनी छोटी है।' 'यह नसेनी यहीं कोने में खड़ी रहती है।'

मैं घर गया तो छोटे भाई के मुँह से एक शब्द सुना—'भसकउवा फरा' ! मैं

चौका, पूछा—यह क्या है ? उन्होंने जो बताया वह मेरा 'भरउवा फरा' था। सोचा—पूछूँ—"यह 'भसकउवा फरा' कहाँ से उठा लाये ? हमारे घर में तो 'भरउवा फरा' था, वही जिसमें दाल 'भरी' जाती है।" फिर सोचा कि शायद तुरन्त ही जवाब मिल जाय—"वाह भाई साहब ! आप इसको बेगाना समझते है ! अरे, यह वही 'भसकउवा फरा' है जो पकाते समय 'भसक' जाता है, खाते ह तो 'भसकता' है।" निदान चुप रहा।

एक दिन भतीजे महोदय शोर मचा रहे थे—'मेरा बोरका कहाँ है ?' उनको स्कूल जाने की देर हो रही थी। मै समझ गया इनका तात्पर्य मिट्टी के उस छोटे पात्र से है जिसमें खरिया मिट्टी का घोल भरा रहता है और जिसमे किलक या सेंठे की कलम डुबाकर लकड़ी की पट्टी पर लिखा जाता है। मैने भी बचपन मे इसी प्रकार पढ़ा-लिखा है मगर तब मेरे लिए यह पात्र 'बुदिक्का' था। मैने 'बुदिक्का' से पढ़ा और मेरे भतीजे साहब 'बोरका' की तलाश में है। मन मे आया, कह दूँ—'तुम्हारा बोरका मैने ले लिया है; लेकिन वह मिट्टी का नही, तुम्हारी ध्वनियों का बना है।' मगर मेरे कहने का मतलब वह क्या समझते, हाँ आकर थोडी देर मुझे परेशान जरूर करते। मै चुप ही रहा।

●

४. उच्चरित भाषा की विचित्रताएँ

हिन्दी भाषा को अपने लिखित रूप के लिए देवनागरी-जैसी वैज्ञानिक लिपि प्राप्त है, इस बात को लेकर विद्वानों मे प्राय: चर्चा की जाती है। यह भी कहा जाता है कि हिन्दी में हम वही लिखते है जो बोलते है। किन्तु यह बात पूरी तरह सत्य नहीं है, इसके कई उदाहरण हमे मिलते है। इस्बार्, राम्दयाल् और हर्दम् को हम इस बार, रामदयाल और हरदम लिखते है। इन शब्दो के प्रचलित वर्ण-विन्याम की जगह यदि हम इनका उच्चरित रूप ही लिखे तो बड़ा अजीब-अजीब दिखेगा। किन्तु जिन शब्दो का लिखित रूप इतना स्थिर नही है, उनके वर्णविन्यास में कई विभेद मिलते है। उदाहरणार्थ—बिल्कुल-बिलकुल, गर्दन-गरदन, बर्तन-बरतन। अँगरेज को तो लोग पाँच तरह से लिखते हैं—अग्रेज, अँग्रेज, अंगरेज, अँगरेज, अङ्गरेज।

वर्णविन्यास-सम्बन्धी इन बातो का पता प्राय: सभी को है। लेकिन उच्चारण का एक भेद भाषिकी में रुचि रखने वाले कुछ ही लोगों ने लक्षित किया होगा; और वह है कुछ स्थितियो में 'ह्' के पहलेवाले ह्रस्व 'अ' के स्थान पर ह्रस्व 'ऐ' की ध्वनि। उदा०—कॄहते है, रॄहते थे। ये रूप खड़ी बोली के विद्वानों मे भी प्रचलित है। मगर यह बात सर्वत्र नहीं लागू होती। गोरखपुर, देवरिया और बलिया आदि पूर्वी जिलों के व्यक्तियों के उच्चारण में इस विशेपता का अभाव पाया जाता है। उनके वाक्य होंगे—मैं आपसे कॅह् रहा था; और—मुझे मॅहसूस होता है; जब कि मेरे उच्चारण मे इनका रूप इस प्रकार होगा—मैं आपसे कॄह् रहा था, और—मुझे मॄहसूस होता है। हिन्दी के इन भेदों के नियम दिये जा सकते है और इस प्रकार उसकी वर्तनी पूर्णत: स्वनिक न हो, स्वानिमिक अवश्य ही है।

एक ही भाषा में ऐसे अन्तर स्थानभेद, वर्गभेद अथवा प्रसंगभेद के कारण मिलते हैं। हिन्दी का एक वाक्य लें—कम-से-कम इतना तो कर ही दो! इसका 'कम-से-कम' कभी-कभी 'कम्से् कम' हो जाता है यानी दीर्घ 'ए' ह्रस्व हो जाता है; जैसे—कम्से् कम इतना तो कर ही दो! और कभी-कभी तो 'ए' गायब ही हो जाता है। जैसे—कमस्कम इतना तो कर ही दो! जल्दी बोलने में कर ही का 'ह्' गायब हो जाता है और 'कर ही दो' के स्थान पर 'करी दो' सुनाई देता है। अँगरेजी में भी एक शब्द के कई उच्चरित रूप मिलते है। 'रोड' के लिये रोउड्, रउड और रॆउड तथा 'हाउस' के लिये हाउस, हैउस, हॆउस और हउस उच्चारणों का प्रयोग लक्षित किया गया है।

उच्चारणों की इन प्रवृत्तियों में सुविधा का बड़ा महत्वपूर्ण योग है। हिन्दी में तो इस सुविधा का यह परिणाम हुआ है कि कुछ बोलियों में आरम्भिक संयुक्त व्यंजन का उच्चारण ही उस रूप में नहीं होता; स्टेशन को इस्टेशन, प्रसाद को परसाद और स्वाद को सवाद कर दिया जाता है। लेकिन हममें से बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि दुनिया में ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनमें आठ-दस व्यंजन एक साथ आ जाते हैं। जिन लोगों के लिए कुछ स्थितियों में दो व्यंजनों का एक साथ उच्चारण भी पहाड़ हो जाता है, उनके लिए ऐसे शब्द कितने कठिन होंगे! एक शब्द है—/c'xstxw/ भला इसका उच्चारण बिना स्वर के कीजिए! इसी प्रकार बेलाकूला भाषा का एक उदाहरण है—/sk'lxlxc/।

खैर, इन बातों को तो यहाँ छोड़ दें। जो भाषा हम बोल लेते हैं और बोलते रहते हैं, उसकी विचित्रताओं पर भी हम प्रायः ध्यान नहीं देते। इस उच्चरित भाषा की ऐसी-ऐसी विचित्रताएँ होती हैं जिन्हें लिखने की ओर हमारा कभी ध्यान ही नहीं जाता।

उच्चरित भाषा के संबंध में एक बड़ी विचित्र और मजेदार बात यह है कि यदि कोई एक ही व्यक्ति किसी शब्द का उच्चारण कई बार करे तो वे सारे उच्चारण एक-दूसरे से भिन्न होंगे। यानी किसी शब्द या ध्वनि को एक बार हम जिस रूप में बोलते हैं, दूसरी बार हम उसे ठीक उसी प्रकार नहीं बोल सकते।

क्या लिखने में भी ऐसे अन्तर संभव है? लेकिन इन अन्तरों पर भी हम यहाँ ध्यान नहीं देंगे क्योंकि इन्हें तो यंत्रों की सहायता के बिना अच्छे-अच्छे स्वनज्ञ भी नहीं सुन पाते। यहाँ हम ऐसे अन्तरों की बात करेंगे जिन्हें हम सुनते हैं और समझते हैं। हिन्दी का एक वाक्य है—कब जाओगे? इसे लिखकर आपके सामने रख दिया जाय तो आप इसे पढ़ लेंगे लेकिन आपको यह पता नहीं चल सकेगा कि यह किस प्रकार कहा गया था। इसके विपरीत यदि लिखें नहीं, कहें तो अनेक प्रकार से कह सकते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में ' चिह्न पर विशेष बल देकर पढ़िए; जैसे:—
कब जाओगे? 'कब जाओगे? कब 'जाओगे? 'कब 'जाओगे?

और गाकर तो इसके कई राग निकाले जा सकते हैं। यदि इसे पद्य की एक पंक्ति बनाने के लिए दुहरा कर कई बार पढ़ा जाय तो लिखने में हम इस बात का कोई संकेत नहीं कर पाएँगे कि जाओगे को हर बार किस प्रकार अलग ढंग से पढ़ा गया। लिखने में तो हमें 'जाओगे' को हर बार उसी एक ढंग से लिखना पड़ेगा। क्योंजी-जैसे दो छोटे-छोटे शब्द कहने से हमारा तात्पर्य पूरा हो सकता है। इसे हम किस ढंग से कहते है, इसी बात से यह पता चल जाएगा कि हम किसी को डाँट रहे हैं, दुलार कर रहे हैं, या किसी की चोरी पकड़ जाने पर उसे बना रहे हैं—क्यों···जी·· क्योंजी! लिखने में ये सारी बातें नहीं आ पातीं।

और यदि हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि ये वाक्य एक ही ढग से कहे गये तो भी हमें कई बातो का पता चल जाता है। यदि बोलनेवाला व्यक्ति हमारा परिचित है तो हम उसकी आवाज से ही उसे पहचान लेंगे। यदि वह परिचित न हुआ तो भी हमे प्रायः इस बात का पता लग जाता है कि वह स्त्री है या पुरुष और उसकी आयु लगभग कितनी है। हस्तलेख देखकर भी हमे अपने परिचित व्यक्ति का पता चल जाता है। दो भाइयो की आवाज में प्रायः इस प्रकार की समानता मिल जाती है कि उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। लिखित भाषा के बारे में यह बात इतने अंशों में सही नही है।

फिर भी यह न समझना चाहिए कि इन सब बातों का संकेत लिखित भाषा में बिलकुल ही संभव नही है। स्वनज्ञों ने अपने उद्देश्य के लिए स्वनलिपियाँ बनाई हैं जिनमें सुर, मात्रा और सधि आदि के चिह्नो से कई बातो का संकेत करने की चेष्टा की जाती है। विरामचिह्न भी कुछ बातों का सकेत करते हैं। स्वनलिपियों मे यह प्रयत्न भी किया जाता है कि संसार की सभी भाषाओं में जितनी ध्वनियाँ मिलती हैं, उन सबके लिए चिह्न रक्खे जायँ। कुछ ऐसी ध्वनियाँ, जिन्हें हम बोल लेते है लेकिन लिख नहीं पाते, स्वनलिपि में लिखी जा सकती है। फिर भी तमाम ध्वनियाँ ऐसी है जिन्हें लिख पाना इतना सहज नही है। उदाहरण के लिए वे तरह-तरह की सीटी की आवाजें ली जा सकती हैं जिन्हें लोग अपने मुँह से ही पैदा कर देते है।

लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि लिखित भाषा का सामर्थ्य बहुत अल्प है। वास्तव मे लिखित भाषा उनमें से अधिकांश बातों को अकित करने में समर्थ होती है, जिनका हमारे वक्तव्य और अर्थ से सीधा सबंध होता है। जो बाते गौण हैं और जिनका भापा के उद्देश्य से सीधा संबध नहीं है, लिखित भाषा उन्हे बिलकुल छोड़ देती है। इस प्रकार उच्चरित भाषा की विचित्रताओं को ठीक-ठीक लिख पाना संभव नहीं है; फिर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति मे लिखित भाषा का महत्व कम नही होता है।

५. भाषिकी 'विज्ञान' क्यों है ?

'विज्ञान' शब्द भारतवर्ष के लिए नया नहीं है। विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान—इस रूप में उसे सामान्य शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति भी समझ लेता है। विशेष अथवा युक्ति-सहित ज्ञान प्राप्त कर हम जिस 'विज्ञान' के अधिकारी बनते है, वह 'सामान्य ज्ञान' अथवा किसी विषय के स्वरूप के परिचय-मात्र से भिन्न है। इस रूप मे गहराई से विवेचन कर सकने वाला दृष्टिकोण 'वैज्ञानिक' कहलाएगा।

तब भाषिकी को भाषा का विज्ञान कहने में हमे कोई संकोच न होना चाहिए यदि भाषा के सभी पहलुओ पर हम गहराई से सोच-विचार कर सके। भारतवर्ष को यह गहरी दृष्टि प्राचीन काल मे ही प्राप्त थी। इस प्रकार 'भाषिकी' भी भारतवर्ष के लिए चिर-परिचित विषय है। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में अनेक स्थलों पर शब्दों की व्युत्पत्ति और स्वरों के उच्चारण आदि का विवेचन है। बाद में इसी विषय को लेकर निरुक्तों की परम्परा जन्मी, जिनमें यास्क का 'निरुक्त' इतना प्रसिद्ध हुआ कि आज हम 'निरुक्त' से यास्क-कृत 'निरुक्त' का ही अर्थ ग्रहण करते हैं। 'निर्वचन' और 'शब्दशास्त्र' भी प्राचीन शब्द है जो 'विशेष ज्ञान' वाले विज्ञान की कोटिमें आ सकते हैं। शिक्षा' शब्द भी पुराना है, जिसमें वर्ण, स्वर, मात्रा, बल आदि का विवेचन समाविष्ट है। उणादि-सूत्रों में भी शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार हुआ है। संस्कृत व्याकरणों का निर्माण इतना क्रमबद्ध और वैज्ञानिक हुआ था कि उन्हें हम 'सामान्य ज्ञान' के अन्तर्गत नहीं रख सकते।

डॉ० बाबूराम सक्सेना ने उपर्युक्त परिभाषा को ही इन शब्दों में व्यक्त किया है :—"विज्ञान विशिष्ट ज्ञान है जिसमें विप्रतिपत्ति और विकल्प की गुंजाइश नहीं और इसके तत्व सर्वत्र व्यापक हैं।"§

डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने विज्ञान को 'युक्तिसहित ज्ञान' माना है और ऊपर से दो बातें जोड़ दी हैं :—(१) "विज्ञान में हमारी दृष्टि उपयोग की ओर इतनी नहीं होती जितनी स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा की तृप्ति की ओर हो जाती है।" (२) "सामान्य ज्ञान से विज्ञान को भिन्न करने वाला मुख्य गुण उसका तुलनात्मक होना है।"†

---

§सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ ३।

†भाषाविज्ञान, पृष्ठ २।

दर्शनकारों ने चेतन पदार्थ का मुख्य लक्षण 'ज्ञान' माना है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—नैसर्गिक (स्वतःसिद्ध) और बुद्धिग्राह्य। बुद्धिग्राह्य ज्ञान के प्रायः दो भेद किये जाते है—विज्ञान और कला। भाषिकी बुद्धिग्राह्य ज्ञान तो है; किन्तु वह विज्ञान क्यों है ? कला क्यों नही ?

कला में विकल्प होता है, विज्ञान में नही। विज्ञान मे यदि कोई अपवाद आते है तो वे नये नियमों की ओर संकेत करते है। कला का लक्ष्य उपयोग और मनोरजन होता है किन्तु विज्ञान का ज्ञानार्जन। ज्ञानार्जन मे ही रस लेना और मनोरंजन पाना दूसरी बात है। विज्ञान भी आगे चलकर अपने आविष्कारो के माध्यम से उपयोगी हो सकता है, किन्तु ये आविष्कार कला की कोटि मे आएँगे। विज्ञान केवल सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है और सत्य का अन्वेषण करता है। भाषिकी की दिशा भी यही है। कला रचनात्मक होती है, विज्ञान नहीं। विज्ञान का लक्ष्य अपने उद्दिष्ट विषय का विश्लेपण-मात्र होता है। इस विश्लेपण के लिए ही यदि कोई रचना करनी पड़े तो दूसरी बात है। भापिकी का दृष्टिकोण भी सत्यान्वेपक है, नई सृष्टि की रचना का नही।

उपर्युक्त विवेचन से इतना निश्चित हुआ कि भापिकी कला नही है, है वह विज्ञान ही। किन्तु विज्ञान क्या वह उसी अर्थ में है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ?

'विज्ञान' शब्द हमारे यहाँ प्राचीन काल से प्रचलित है, इसमे कोई सन्देह नहीं। अनेक विज्ञानों के विविध पहलुओ से हमारा परिचय था, यह भी सत्य है। किन्तु बीच मे विज्ञान से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। विज्ञान की जो धारा हमारे यहां प्राचीन काल में प्रवाहित हुई, वह प्राचीन काल में ही समाप्त हो गई। इधर कुछ शताब्दियो मे ससार ने विज्ञान में अद्भुत प्रगति की है। इस वैज्ञानिक प्रगति के प्रभाव से हमारा देश भी असम्पृक्त नही रहा। विज्ञान के क्षेत्र मे हमने भी कुछ-न-कुछ सीखा है, किन्तु वह अन्य देशों से, अन्य देशों के अनुकरण पर। और आज जब हम 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग करते है तो हमारे मस्तिष्क मे 'साइंस' शब्द का हिन्दी-अनुवाद रहता है। हम अपनी वर्त्तमान अगति को छिपाने के लिए ही अथवा अपना गम गलत करने के लिए अपनी भूतकालीन प्रगति की आड लेते है और पुरानी परिभापाओं को खीच-तानकर चलाते हैं।

अस्तु 'विज्ञान' का अर्थ है साइंस। हमें देखना है कि इस 'विज्ञान' के लक्षण क्या है और भापिकी उनकी कसौटी पर कैसी उतरती है।

१. विज्ञान पदार्थों मे कार्य-कारण-सम्बन्ध की खोज करता है। यदि कोई कार्य होता है अथवा कोई घटना घटती है तो उसका कारण क्या है ? यदि हमारे सम्मुख कोई कार्य नहीं हो रहा है अथवा कोई घटना नही घट रही है, केवल उसका कारण प्रस्तुत है, तो

उसका परिणाम (कार्य) क्या होगा ? कार्य-कारण-परम्परा की ये दो दिशाएँ है । इन दोनों दिशाओं मे विज्ञान उस स्थल तक पहुचने का प्रयत्न करता है, जहाँ तक मानव-मस्तिष्क की गति शक्य हो । कोई वस्तु नीचे से ऊपर फेंकी गई, वह फिर लौट आई ; यह एक कार्य हुआ । इसका कारण क्या है ? अथवा इसे दूसरी दिशा से देखें । धरती की आकर्षण-शक्ति का कारण उपस्थित है , यदि हम कोई वस्तु नीचे से ऊपर फेंके तो क्या कार्य होगा ?

इन दोनों बातों का विश्लेषण हमें एक निश्चित निष्कर्ष पर ले जाएगा । विश्लेषण की यह प्रवृत्ति विभिन्न बिखरी हुई वस्तुओ, असम्बद्ध दिखनी हुई घटनाओं में एक संगति, सम्बन्ध और तारतम्य खोजेगी । परस्पर असम्बद्ध दिखनेवाले पदार्थ अथवा घटनाएँ जब परस्पर सम्बद्ध प्रतिपादित हो जाएँ तो उन सबको व्यवस्थित करना होगा । 'व्यवस्था' अथवा 'क्रमबद्धता' विज्ञान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है ।

एक भाषा के पितृ, पाद, पुरु, प्लु शब्द दूसरी भाषा में फादर, फूट, फुल, फ्लो हो जाते हैं (कार्य) । इन उदाहरणों को व्यवस्थित करके रखने से यह नियम (कारण) बना कि एक भाषा का प् दूसरी भाषा में फ् बन गया है । इस उदाहरण में हम कार्य से कारण पर पहुँचे है । कारण से कार्य पर पहुँचने की प्रक्रिया को ही उलटने से मूल भारोपीय भाषा की पुनर्रचना संभव हुई है ।

२. विचार और चिन्तन ही विज्ञान के आधार नहीं हैं, विज्ञान में अन्वीक्षण और प्रयोग को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । इसका एक कारण यह भी है कि विज्ञान की क्रियाएँ दृष्टिगम्य होती है, कला और साहित्य की भाँति कल्पनागम्य नहीं । विज्ञान प्रयोगों के आधार पर सबके लिए एक ही परिणाम प्रस्तुत करता है, साहित्य की उपलब्धियाँ वैयक्तिक होती हैं ।

यस्पर्सन प्रभृति विद्वानों ने शिशु के विकास का ध्यानपूर्वक अन्वीक्षण किया है और भाषा के विकास को समझने की चेष्टा की है । भाषा के उद्गम को समझने के लिए नवजात शिशुओं पर आरम्भ से प्रयोग हुये हैं । ध्वानिकी की अपनी प्रयोगशाला ही होती है, जिसमें विभिन्न प्रकार के यन्त्र होते हैं ।

३. विज्ञान व्यक्ति-निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ होता है । किसी विशेष व्यक्ति के लिए विज्ञान की सिद्धि कुछ और हो, अन्य के लिए और, ऐसा नहीं होता । जादूगर का जादू केवल उसी तक सीमित हो सकता है पर वैज्ञानिक सूत्र सबके लिए सत्य हैं ।

यहाँ भाषिकी का क्षेत्र हमें विज्ञान की अपेक्षा कुछ सीमित-सा दिख सकता है । विज्ञान के सत्य सर्वत्र सत्य हैं, पर भाषिकी में ध्वनि-परिवर्तन के नियम सभी भाषाओं पर लागू नहीं किये जा सकते । थोड़ी गहराई में जाकर विचार करें तो यह आपत्ति निराधार है । ध्वनि-परिवर्तन के नियम विभिन्न भाषाओं में पृथक्-पृथक् हो सकते हैं,

पर इन नियमों के नियम, दूसरे शब्दों में कहें तो 'ध्वनि-परिवर्तन के कारण' सर्वत्र एक है। एक स्थान पर प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख की प्रवृत्ति व्याप्त हो, अन्यत्र लोग उत्साह-पूर्वक कठिन-से-कठिन शब्दों के उच्चारण की ओर अग्रसर हो रहे हो—यह सम्भव नहीं है। भाषिकी अपेक्षाकृत नया विज्ञान है, इसलिए यह सम्भव और स्वाभाविक है कि उसकी उपलब्धियाँ अन्य विज्ञानों की तुलना में कम नियमित और सुसम्बद्ध हों।

किन्तु इस बात का भाषिकी की व्यक्ति-निरपेक्षता के हमारे मूल प्रश्न से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। हमारे अध्ययन का विषय 'भाषा' है। 'भाषा' का ही महत्व है, उसके किसी एक उपासक का नहीं। सभी लोग भाषा की उपासना कर सकते हैं।

४. विज्ञान संग्राहक होता है। उसकी उपलब्धियाँ कभी स्थिर नही हो पातीं, उनमें निरन्तर विकास होता रहता है। प्राप्त ज्ञान-निधि कभी सम्पूर्ण नही कही जा सकती, उसमें योग होता रहता है। इस प्रक्रिया में पुरानी परम्पराओं का खण्डन भी होता है, पुरानी उपलब्धियो और सिद्धियों की प्रकट रूप में अवमानना भी हो सकती है, किन्तु अन्वीक्षण और प्रयोग का सूत्र सदैव धारण किये रहना पड़ता है।

भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में अनेक वाद प्रस्तुत किये गये। आज उनमें से कुछ वादों को तिरस्कृत कर दिया गया है और अन्य का समन्वय करके समस्या को सुलझाने की चेष्टा की गई है। यद्यपि अधिकांश भाषिक भाषा के उद्गम की समस्या को छोड़ देना ही उचित समझते है,§ किन्तु जिन भाषिकों ने इस ओर से अपना ध्यान नहीं हटाया है, संभव है इस दिशा में वे कुछ नई उद्भावनाएँ करें और हमें अपनी वर्तमान मान्यताओं में संशोधन या परिवर्तन करना पड़े।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है। किसी 'सत्य' की प्रतिष्ठापना जब तक वैज्ञानिक रूप से असंदिग्ध नही सिद्ध हो जाती, हम उसे विज्ञान के अन्तर्गत नहीं रखते। ऐसा सत्य 'वाद' कहलाता है।

●

---

§पेरिस की भाषिकी-परिषद् की नियमावली के अनुसार भी इस प्रश्न पर विचार करना निषिद्ध है।

६. 'अँगरेज' शब्द के चार रूप

हमारे भूतपूर्व गौरांग महाप्रभुओ के लिए सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होने वाला शब्द आजकल हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं मे चार रूपों में दिखाई देता है :—

अंग्रेज, अँग्रेज, अंगरेज§, अँगरेज ।

किसी शब्द के वर्ण-विन्यास की यह अस्थिरता हिन्दी के लिए श्रेयस्कर नहीं है। अत: इस बात पर विचार करना चाहिए कि इन रूपों में से किसका प्रयोग अधिक उचित है। इसके लिए पहले इन चारों रूपों का वार्णिक विभाजन करें :—

(१) अं—ग्रेज
(२) अँग्—रेज(ग्रेज)
(३) अंग—रेज
(४) अँग—रेज

इनमें पहले दो रूप स्वनात्मक हैं और इन रूपों के यथार्थ उच्चारण पर आधारित है जबकि अन्तिम रूप स्वानिमिक है और हिन्दी वर्तनी या वर्ण-विन्यास के नियमों का अनुसरण करता है।

तीसरा रूप उन लोगों की देन है जो अनुनासिक के अर्थ में भी अनुस्वार का प्रयोग करने लगे हैं† और इसे चौथे रूप का सरलीकरण (!) समझ कर ही ग्रहण करते हैं। इस नई परम्परा को प्रतिष्ठित करने का साहस जिन विद्वानों ने दिखाया है, यह रूप केवल उन्हीं के लिए वैध है। मुझे यह साहस नहीं होता (मुझे 'हंस' और 'हँस' में अन्तर रखना है) और न इस प्रकार के साहस को मैं वांछनीय समझता हूँ। मुझे पता है कि मेरे-जैसे और भी बहुत-से लोग इस साहस से वंचित होंगे, अत: इस तीसरे रूप को मैं छोड़ देता हूँ। जो लोग नई परम्परा प्रतिष्ठित करने और इस प्रकार सीमित क्षेत्र में युग-प्रवर्तन करने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि अनुस्वार और अनुनासिक में भेद न कर पाने के कारण तीसरा रूप अपनाते हों,‡ उन्हें थोड़ा प्रयत्न करके यह भेद समझ लेना चाहिए और इस भ्रान्ति से बचना चाहिए। टाइपराइटर में अनुनासिक का

---

§इसे 'अङ्ग' भी लिखते है। 'अङ्गरेज' को पृथक् रूप माने तो पाँच रूप हो जाते है।

†कुछ शब्दों में स्वर पर अनुस्वार का चिह्न अनुनासिक के अर्थ में लगाया जाता है (जैसे :—'में'); किन्तु 'अ' पर ऐसा नहीं होता।

‡यह बात अनुभूत तथ्य है।

प्रवन्ध नहीं है अतः वहाँ अनुस्वार का ही प्रयोग करना पड़ता है। टाइपराइटर की वर्त्तनी के सशोधन के लिए जिन्हें अपनी अकल्पनीय अतिव्यस्तता अथवा आलस्य के कारण समय नहीं मिलता, उनके लेखन में भी तीसरा रूप विद्यमान रहता है।§ कुछ हो, इस तीसरे रूप का अनुस्वार अनुस्वार नही है, अन्यथा स्वनिक दृष्टि से उक्त वार्णिक विभाजन मे 'अ' और 'ग' को अलग करना पड़ता।

अब बचे तीन रूप—पहला, दूसरा और चौथा। प्रथम दो रूप स्वनिक हैं और यदि ऊपर का वार्णिक विभाजन मान लिया जाय तो दोनों ही रूप सही है। अब देखना यह है कि इनमें से हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल कौन है।

संयुक्त व्यंजन के पूर्व सानुनासिक स्वर का उदाहरण मुझे हिन्दी में नही मिला। इस प्रकार का शब्द केवल 'अँग्रेज' ही है। इसलिए जहाँ अनुनासिक और अनुस्वार की बात आती है, 'अँग्रेज' रूप के हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल होने का प्रश्न ही नही उठता। प्रसंग की यह मर्यादा छोड दे तो इस रूप का औचित्य 'अँ-ग्रेज' विभाजन से सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि सयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर वाले वर्ण को द्विमात्रिक मानने के उदाहरण हिन्दी में हैं:—

प्र—ख्यात
वि—श्वास†

पहला रूप भी उक्त वार्णिक विभाजन की दृष्टि से सही है। इसमें अनुस्वार के प्रभाव से उसका वर्ण स्वयं ही द्विमात्रिक हो जाता है, परवर्त्ती वर्ण का आरम्भिक व्यंजन संयुक्त हो या न हो। किन्तु संयुक्त व्यजन वाले उदाहरण भी मिलते है:—

सं—ग्रह
स—क्रान्ति
अलं—कृत‡

अब रह गया चौथा रूप। पुराने हिन्दी साहित्यकारों ने इसी रूप को उचित समझा था क्योंकि हिन्दी की प्रकृति के अनुसार 'ग' का 'अ' स्वयं ही लुप्त हो जाएगा। जो लोग संयुक्त व्यंजन के पूर्व ह्रस्व स्वर वाले वर्ण को दीर्घ मानने के परम्परागत

---

§यदि यह रूप 'रंगरेज' के अनुकरण पर उपजा हो तो इसके अनौचित्य के सम्बन्ध मे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं।

†संस्कृत उच्चारण के अनुसार 'त' और 'स' पृथक् अक्षर होंगे किन्तु हिन्दी के अनुसार नहीं क्योंकि इनका उच्चारण हलन्त की भाँति होता है।

‡सस्कृत में 'ऋ' का उच्चारण स्वरवत् होता था; किन्तु हिन्दी मे वह 'रि' है। अतः 'कृ' संस्कृत उच्चारण के अनुसार सयुक्त व्यंजन का उदाहरण नही प्रस्तुत करता, जबकि हिन्दी में 'क्रि' उच्चारण होने के कारण उसमें संयुक्त व्यजन मिलता है।

नियम का अनुसरण करके दूसरे रूप को अपनाते है, उन्हें निश्चय ही चौथे रूप को स्वीकार करना चाहिए। एक ओर तो संस्कृत के इस नियम का आश्रय लेना कि संयुक्त व्यंजन के पूर्व का ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ माना जाता है और दूसरी ओर हिन्दी स्वानिमी के इस नियम को भुला देना कि इस स्थिति के वर्ण में 'अ' का उच्चारण नही होता, वर्णविन्यास की खिचड़ी बना देना है। यदि दूसरे रूप के समर्थकों ने चौथे रूप का औचित्य न माना तो सम्भवत: अगले चरण में 'वनकाम', 'सरकार' और 'फटकार'–जैसे शब्द 'वन्काम', 'सर्कार' और 'फट्कार' हो जाएँगे।

इस प्रकार हमारे सामने दो रूप बचते है ('अंग्रेज' और 'अँगरेज'), जिन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुसार समान रूप से स्वीकरणीय माना जा सकता है। अत: इनमे से भी किसी एक ही रूप को चुनने के लिए हमें अपने वास्तविक उच्चारण से इन दोनों रूपों की ध्वन्यात्मकता की संगति पर विचार करना होगा।

'अंग्रेज' रूप को संस्कृत वैयाकरणों की परिपाटी का अनुसरण करने से 'अङ्ग्रेज' भी लिखा जा सकता है। इसमें 'ङ्' का उच्चारण 'अ' के बाद होता है। इसीलिए डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने 'ए फोनेटिक एण्ड फोनोलॉजिकल स्टडी ऑव भोजपुरी' में अनुस्वार को 'नासिक्य ध्वनि-पश्च' कहा है। 'अँगरेज' में अनुनासिकता का प्रभाव केवल 'अ' पर है।

इस भाँति 'अंग्रेज' में नासिक्य तत्व प्रबल है और अँगरेज' में ग-तत्व। यद्यपि 'अंग्रेज' का अनुस्वार ध्वनि-पश्च होने के नाते 'अ' के बाद आता है; किन्तु जैसा कि स्पंदग्राही अध्ययन से सिद्ध हो चुका है, उसका प्रभाव 'अ' पर भी पड़ता है। इससे उच्चार में अनुनासिकता की मात्रा और बढ़ जाती है। मेरा अपना अनुभव यह बताता है कि उक्त शब्द के उच्चारण में नासिक्यता वस्तुत: इतनी अधिक मात्रा में नहीं मिलती। अपने ही सम्बद्ध भाषण में स्वयं तटस्थ होकर इस बात की परीक्षा की जा सकती है और दूसरों के स्वाभाविक उच्चारों में भी इस बात का समर्थन खोजा जा सकता है। 'अंग्रेज' रूप का वर्ण-विन्यास भी मेरी उक्त धारणा की पुष्टि करता है।

अतएव इन रूपों में 'अँगरेज' का प्रयोग ही संगत है।§

●

§जो शब्द अँगरेजी से सीधे अपरिवर्तित रूप में आए हैं, उन्हें लिखने में हिन्दी स्वानिमी के नियमों को न अपनाकर ध्वन्यात्मक आधार पर ही वर्ण-विन्यास करना क्षम्य और एक दृष्टि से उपयोगी माना जा सकता है। अत: 'English' के लिए बहु-प्रचलित हिन्दी रूप 'इंग्लिश' का प्रयोग उचित है। 'इँग्लिश', 'इँगलिश' या 'इंगलिश' का आग्रह यहाँ छोड़ा जा सकता है।